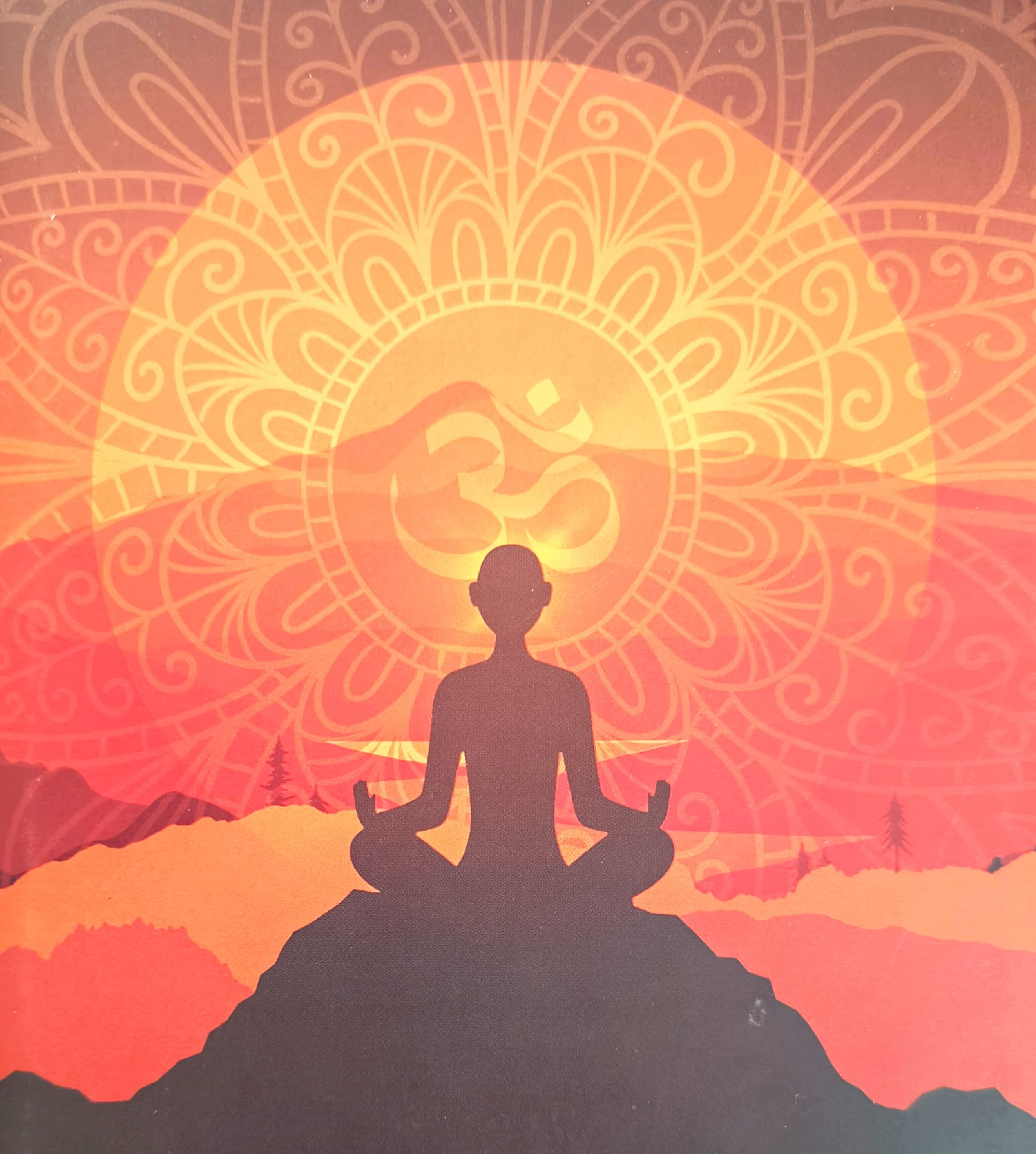

सनातन धर्म का व्यावहारिक स्वरूप

अमित कुमार शर्मा

सनातन धर्म का व्यावहारिक स्वरूप

(खण्ड 1)

अमित कुमार शर्मा

कौटिल्य प्रकाशन

ISBN 978-81-944279-2-6 (Hardback)
ISBN 978-81-944279-1-9 (Paperback)

संस्करण 2021

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस प्रकाशन के किसी भी अंश का किसी भी रूप में पुनर्मुद्रण, या किसी भी विधि (जैसे–इलैक्ट्रॉनिक, यांत्रिक, फोटो–प्रतिलिपि, रिकॉर्डिंग या कोई अन्य विधि) से।

प्रयोग या किसी ऐसे यंत्र में भंडारण, जिससे इसके पुनः प्राप्त किया जा सकता हो, कॉपीराइट धारक एवं प्रकाशक की पूर्व लिखित अनुमति के बिना नहीं किया जा सकता है।

कॉपीराइट – © **अमित कुमार शर्मा**

वेबसाइट – www.kautilyaprakashan.com

ईमेल – kautilyaprakashan@gmail.com

प्रकाशक – कौटिल्य प्रकाशन, देहरादून, उत्तराखंड

शाखाएं:

दिल्लीः हाउस नंबर C-702, दिल्ली स्टेट सोसाइटी, सेक्टर–19, नई दिल्ली – 110075

देहरादूनः हाउस नंबर 138, खसरा नंबर 193, कंडोली, उत्तराखण्ड

गुवाहाटीः हाउस नंबर 501, ब्लॉक 6, लरिका ग्रीन वैली, धारापुर, गुवाहाटी, असम–781017

बेलगामः हाउस नंबर 143, हनुमान नगर, बेलगाम, कर्नाटक

गोवाः मकान नंबर 2G/F1, मॉडल मेरिडियन, करंजलेम, गोवा–22039

मूल्यः 300/- (HARDBACK)

समर्पण

माँ, पिताजी एवं वंदना के लिए जिनका ऋण चुकाये बिना, देश–काल–परिस्थिति के दबाव में, कोरोना काल में मैंने अकेले वाणप्रस्थ आश्रम में प्रवेश कर लिया।

अनुक्रमणिका

पृष्ठ संख्या

प्रकाशकीय प्रस्तावना

निवेदन एवं कृतज्ञता

भूमिकाः

भारतीय संस्कृति एवं कला की सनातन दृष्टि

भाग—1

अध्याय 1

भारतीय संस्कृति में धार्मिक संप्रदाय

अध्याय 2

भारतीय मूल के पंथ एवं धार्मिक समूह

अध्याय 3

भारतीय संस्कृति में विवाह

अध्याय 4

भारत में मंदिर

अध्याय 5

पूजा पद्धति

अध्याय 6

पंचतत्व

अध्याय 7

हनुमान

अध्याय 8

सनातन सत्य

अध्याय 9

भारत में परिवार एवं नातेदारी

भाग–2

अध्याय 1

वैदिक धारा और श्रमण परंपरा

अध्याय 2

बौद्ध धर्म

अध्याय 3

भारतीय मूल के पंथ एवं धार्मिक समूहों में बौद्ध धर्म का महत्व

अध्याय 4

बौद्ध धर्म तथा हिन्दू का परस्पर संबंध

बौद्ध धर्म के विकास में डॉ. बी.आर. अम्बेडकर का

सैद्धांतिक योगदान

अध्याय 5

डॉ. बी.आर. अम्बेडकर, बौद्ध धर्म एवं विश्व ग्राम

अध्याय 6

सर्वधर्म

अध्याय 7

धर्म एवं सिनेमा

अध्याय 8

लोक परंपराओं का शास्त्र

अध्याय 9

भारतीय परंपरा के समकालीन प्रवक्ता

प्रकाशन योजना के बारे में

सतयुग में महर्षि वशिष्ठ ने मनु को कहा, और त्रेता में इसे राम को कहा कि –

(i) खुद कमाना और खाना, प्रकृति है इसे सभी जीव करते हैं।

(ii) दूसरों की कमाई खाना, विकृति है जिसे राक्षसी प्रकृति कहा जाता है।

(iii) खुद कमाना और अपने आसपास के लोगों को खिलाना (कुटुम्ब, समाज, गाँव) और जो बच जाये उसको ईश्वर का प्रसाद समझकर खाना सनातन संस्कृति है।

सनातन संस्कृति का आधार अपने भोगने की प्रकृति को संस्कारित करने की प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया में सामन्यतः गुरु अपने शिष्य को पाँच चीज बतलाता हैः–

(i) क्या करना चाहिए।

(ii) कब करना चाहिए।

(iii) कैसे करना चाहिए।

(iv) क्यों करना चाहिए।

(v) किसके लिए करना चाहिए।

अलग–अलग सम्प्रदायों में उपरोक्त पाँच चीजों का क्रम बदल जाता है। जैसे एक सम्प्रदाय का पहला स्टेप 'क्या करना चाहिए' पर देता है तो दूसरा सम्प्रदाय 'क्यों करना चाहिए' पर जोर देता है। तो तीसरा सम्प्रदाय 'कब करना चाहिए', चौथा सम्प्रदाय 'किसके लिए करना चाहिए' को पहला स्टेप मानता है। लेकिन सभी सम्प्रदायों में 'कैसे करना चाहिए' की प्रक्रिया सामान्यतः एक ही होती है। इस उदाहरण के द्वारा भारतीय संस्कृति में अनेकता में एकता को आसानी से समझा जा सकता है।

मेरा जन्म एक साधारण किसान परिवार में दिल्ली के ग्रामीण इलाके में 15 जनवरी 1964 में हुआ। गाँव में ही शिक्षा का प्रारंभ हुआ। 1989 के आसपास जब देश मंडल और कमंडल विवाद में उलझा हुआ था, मैंने चौधरी चरण सिंह द्वारा स्थापित पार्टी लोकदल ज्वाइन किया। 1991 में जब नरसिम्हा राव ने भारत में उदारीकरण शुरू किया तो मुझे लगने लगा कि लोकदल या जनतादल की राजनीति का प्रभाव उतना सकारात्मक नहीं रह गया है जितना इंदिरा गाँधी, चरण सिंह या राजीव गांधी के भाषणों में सुनाई देता था।

मेरे गाँव के लोग 1991 से 1999 के बीच राजनीति के प्रति उदासीन होने लगे थे। तब तक मेरे प्रिय नेता रामकृष्ण हेगडे का प्रभाव भी देश–काल–परिस्थिति के दबाव में कम होने लगा था। इसी बीच स्वामी कार्तिकेय से मेरा संबंध स्थापित हुआ।

धीरे–धीरे मैं राजनीति छोड़कर वैश्य कर्म की ओर प्रवृत्त हुआ। स्वामी कार्तिकेय की बातों में मुझे स्वामी विवेकानंद का प्रभाव आकर्षक लगने लगा। 1999 से 2016 तक मैंने वैश्य कर्म किया। नोटबंदी से 2–3 माह पहले अगस्त–सितम्बर 2016 में नागा सन्यासी स्वामी सच्चिदानंद सरस्वती ने मुझे प्रोफेसर अमित कुमार शर्मा की लिखी दो पुस्तकें दीं

(1) हिन्द स्वराज की प्रासंगिकता

(2) भारतीय संस्कृति का स्वरूप।

दोनों का प्रकाशन, कौटिल्य प्रकाशन, दिल्ली ने सन् 2005 एवं 2006 में किया था। मुझे दोनों पुस्तकें पढ़ने में समय लगा। फिर मैंने प्रोफेसर अमित कुमार शर्मा की दो और पुस्तकें भारतीय समाजशास्त्र के प्रमुख संप्रदाय (2011) और भारत में सिनेमा और संस्कृति (2020) कोरोना लॉकडाउन के दौरान नवंबर 2020 से फरवरी 2021 के बीच पढ़ी। 30 अगस्त 2021, श्रीकृष्ण जन्माष्ठमी की पूर्व संध्या पर 29 अगस्त 2021 को पारद शिवलिंग एवं माता त्रिपुरसुन्दरी की आराधना के दौरान मैंने महसूस किया कि सनातन धर्म के व्यवहारिक स्वरूप को समझे बिना न खेती–किसानी का कोई मतलब है और न राजनीति और व्यवसाय का।

अचानक मेरे अंतर्मन में एक जोश जागृत हुआ और मैंने वाणप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करके, सनातन धर्म के पुनरोदय के लिए उपयोगी साहित्य के प्रकाशन एवं वितरण करने के लिए

स्वामी सच्चिदानंद सरस्वती के मार्गदर्शन में, कौटिल्य प्रकाशन के साथ एक मौखिक अनुबंध किया कागजी अनुबंध में अब मेरा उतना भरोसा नहीं रहा। संकल्प शक्ति के बिना किसी अनुबंध का कोई अर्थ नहीं है। यह प्रकाशन योजना कोई व्यवसायिक उपक्रम नहीं है।

यह वाणप्रस्थी गृहस्थ के रूप में समाज के प्रति मेरा दायित्व है। माता त्रिपुरसुन्दरी और भगवान शिव की कृपा बनी रही तो सनातन धर्म के युगानुकूल साहित्य का नियमित प्रकाशन होता रहेगा।

— सुभाष डबास

द्वारका, नई दिल्ली

बुधवार, 8 सितम्बर 2021

निवेदन एवं कृतज्ञता

हिन्दी भाषा में यह मेरे शोध, साधना एवं सत्संग की पाँचवी प्रस्तुति है। संकलन की भाषा में नौंवी पुस्तक। सामग्री ज्यादा हो जाने के कारण इस पुस्तक को दो खण्डों में विभाजित किया गया है। यह प्रथम खण्ड प्रारंभिक अथवा परिचयात्मक है। दूसरा खण्ड कर्मकाण्ड, जीवन में व्यवहृत दर्शनों, मूल्यों–पूजा पद्धति के विवरणात्मक सोपाणों एवं आचार संहिता के अपेक्षाकृत गूढ़ विषयों के बारे में है।

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय की औपनिवेशिक यूरोपीय शब्दावली में ज्यादातर लेखकों में कानूनी वैधता प्राप्त मैकॉले, मैक्समूलर, विलियम जोंस, कार्ल मार्क्स, लियो स्ट्राँस आदि के वारिसों की कतार में शामिल होने के लिए अपने को ''आधुनिक'' एवं ''मौलिक'' शोधार्थी का दावा करना अनिवार्य और फैशनेबुल ''बौद्धिक विलास'' रहा है। मैंने 1986 के जुलाई माह से ही इस ''विलासिता'' से एक सचेत दूरी बनाये रखा है। स्वाभाविक रूप से जे.एन.यु. की किसी ''विचारधारा और खेमेबाजी'' से मुझे आज तक कोई सरोकार नहीं रहा। मेरी अन्य पुस्तकों एवं पुस्तिकाओं की तरह यह पुस्तक भी न मौलिक है और न आधुनिक। इसका किसी राजनीतिक विचारधारा या साम्प्रदायिक विमर्श से सीधा या टेढ़ा, आड़ा या तिरछा, प्रकट या अप्रकट रूप से संबंध चेतन, अवचेतन या अचेतन स्तर पर नहीं है।

यदि पाठकों को इसमें कोई राजनीतिक विचारधारा या साम्प्रदायिक विमर्श दिखता है तो मैं इसे उनका दृष्टि–दोष या बेहयायी नहीं कहूँगा। इसे मैं अपनी मेधा की सीमा और साधना की अपूर्णता मानकर उनसे विनती करूंगा कि वे पूरी पुस्तक को दुबारा या तिबारा पढ़ें चूंकि यह मेरी लिखी पुस्तक नहीं है, यह उनकी अपनी संस्कृति, उनके पुरखों की विरासत और उनकी अर्धचेतन से ''संवाद बनाने का'' एक तुच्छ प्रयास है, एक सनातनी हठ है, साम्प्रदायिक रूप से एक अनाधिकार चेष्ठा है।

इस चेष्टा की प्रेरणा मुझे मेरे गुरू परम्परा और अपने कुल की विरासत से मिली। लेकिन इसकी प्रस्तुति के स्थूल शुरूआत, अपनी परम्परा, अपनी परम्परा के शास्त्रकारों, आचार्यों, संतों और गुरूजनों की कृपा और आशीर्वाद के बावजूद, कई दशकों तक नहीं हो पायी। मुझे मालूम है कि यह प्रस्तुति लौकिक एवं शास्त्रीय दोनों दृष्टियों से अधूरी है। जितना शामिल किया गया है, उससे बहुत ज्यादा छूट गया है।

वास्तव में माँ सरस्वती, माँ लक्ष्मी, माँ काली की संयुक्त रूप जिन्हें दक्षिण भारत के लोग कामाक्षी, उत्तर भारत के लोग दुर्गा, पूर्व एवं पूर्वोत्तर में क्रमशः तारा और त्रिपुरसुन्दरी कहा जाता है और मेरे कुल में जिन्हें ''डाकिनी मामा'' कहा जाता है, उनकी इच्छा के बगैर लिखने पर लेखक की पात्रता की परीक्षा गणपति लेते रहते हैं। तारा एवं डाकिनी का दैवीय स्वरूप सनातन धर्म की शाक्त एवं बज्रयान (कालचक्रयान) की

तांत्रिक साधना से व्यवस्थित रूप से ज्यादा जुड़ा रहा है और बंगाल के तारापीठ की बौद्ध परम्परा और कामरूप–कामाख्या की शाक्त परम्परा के साथ तिब्बत के कालचक्रयान में ज्यादा व्यवस्थित रूप से सीखा और सिखलाया जाता है। इसको बिना समझे भारतीय सनातन धर्म के व्यवहारिक स्वरूप को युगानुकूल भाषा एवं शब्दावली में, एक संतुलित एवं समन्वित अभिव्यक्ति देने की ''काम चलाऊँ'' कोशिश भी लगातार असफल होती रही है।

मेरी कोशिश का लक्ष्य भी असफल नहीं होगी ऐसा मानने का कोई तार्किक कारण नहीं है। आज की विषम परिस्थिति में हर सनातनधर्मी के रोजमरा के आत्मसंघर्ष को एक स्नेहिल आलंबन देना जरूरी है, इसे बहुत लोग मानते हैं। उनमें मैं भी हूँ।

अतः किसी न किसी को तो, कहीं, न कहीं से शुरूआत करनी पड़ेगी। दशकों के इंतजार के बाद इसकी शुरूआत भागीरथी नदी के किनारे 26 मई 2007 को टिहरी गढ़वाल के भागीरथी पुरम से हो गई। फिर सिक्किम, हिमालच, गोवा, कर्नाटक, असम, राजस्थान, मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़, ओड़िसा, झारखंड, बिहार, उत्तर प्रदेश, उत्तराखंड और पुराने इंद्रप्रस्थ के साधकों, संतों, सन्यासियों के साथ लगातार सत्संग चलता रहा और उससे सामग्रियों का संकलन, संपादन, समीक्षा, मीमांसा और विमर्श की कड़िया बनती–बिगड़ती– जुड़ती, बुनती चली गई।

इस प्रस्तुति का मुख्य उद्देश्य एक खास पाठक वर्ग को ध्यान में रखकर की गई है जो सचमुच सनातन धर्म को जानना या जीना चाहते हैं और विषम परिस्थिति में उन्हें अनगिनत संकट एवं बाधायें झेलनी पड़ती हैं। यह प्रस्तुति उन्हें यह प्रतीती कराने के लिए गढ़ी गई है, ताकि उन्हें यह महसूस हो कि वे अपने आत्मसंघर्ष में अकेले नहीं हैं, करीब–करीब हर सनातनधर्मी उनके समान (भले–ही समरूप न सही) ही आत्मसंघर्ष कर रहा है लेकिन उपनिवेशवादी विरासत की विडंबना के कारण वे चाहे–अनचाहे एक–दूसरे से संपर्क या संवाद नहीं बना पा रहे हैं।

यह पुस्तक एक जैसे सनातनी व्यक्तियों एवं परिवारों को आपस में सामुदायिक भावना, भ्रातृत्व (फ्रेटरनिटि) एवं समानधर्मी होने की अनुभूति दिलाने के लिए एक तरह के ''पुल'' या ''रस्सी'' का ताना–बाना या जाल बुनने की नीयत से लिखी गई है। नीयत जोड़ने की है। एक पाठक को दूसरे पाठक से। मैं खुद भी इस पुस्तक का एक पाठक ही हूँ। मेरे पास सिद्धि नहीं है, मात्र साधक हूँ। मेरे हर पाठक के पास मुझसे ज्यादा बुद्धि, ज्यादा मेधा, ज्यादा सामर्थ है। यदि वे चाहें तो किसी क्षण परम्परा की ज्यादा समर्थ, ज्यादा सार्थक और ज्यादा सारगर्भित प्रस्तुति कर सकते हैं।

इस पुस्तक का एक उद्देश्य उनको उकसाना है कि यदि वे संकल्प ले लें, तो कम से कम मुझसे बेहतर तो लिख ही सकते हैं।

मेरे हर वाक्य में मेरे ज्ञान या विचार का प्रकटीकरण नहीं अपितु आपके अंतस में स्थापित सहज ज्ञान को परिलक्षित करने का एक सीमित प्रयास है।

बचपन से मैंने अपने रूग्ण शरीर और शुद्ध आत्मा को ज्ञानमार्ग से अनासक्त और दुरूह पाया। बचपन से मेरे आसक्ति कर्म एवं भक्ति मार्ग में रही। यह कर्म रोजमर्रा के काम जिसे अँग्रेजी में ''वर्क या एक्शन'' कहते हैं उसका वाचक नहीं है। बल्कि यह वैदिक शब्दावली में ''कर्मकाण्ड'' का वाचक है।

पूर्व मीमांसा में इसे ''यज्ञ'' कहा गया है। श्रमण परम्परा के आचार्यों ने इसे स्थूल अर्थ में ''धम्म पालन'' कहा और सूक्ष्म अर्थों में इसे ''यान'' या ''मार्ग'' कहा। शास्त्रीय कला, खासकर नृत्य और संगीत में इसे लौकिक और मार्गी कहा गया है। कालांतर में इसके विकल्प के रूप में उपनिषदों, ब्रह्मसूत्र और कुछ अरण्यकों में ज्ञान मार्ग का विकास हुआ। सम्मिलित रूप से इसे ''वेदांत'' कहा गया। फिर वेदांत में सम्प्रदायों का ''गोरखधंधा'' शुरू हो गया। हर वेदांतिक आचार्य अपना–अपना सम्प्रदाय बनाने के लिए अपना–अपना ''विधि'' अपना–अपना ''तर्क'', अपना–अपना आचार–शास्त्र एवं कार्य–प्रारूप अपनी–अपनी ''राय'' एवं कार्य प्रारूप देने लगे और दूसरों को नीचा दिखाने के लिए 'वितंडा' का प्रयोग करने लगे। इससे एक सनातन धर्म या धम्म अनेक सम्प्रदायों में विभक्त होने लगा और शाखा–प्रशाखा बनने लगी।

आज हाल यह है कि पूरी दुनिया में एक भी ऐसी सनातनी पुस्तकालय या प्रकाशक नहीं है जो अपने सम्प्रदाय के बाहर के ग्रंथ, टीका, भाष्य या व्याख्या को संकलित, संपादित या संबंधित करने में क्रियाशील हो। जबकि सामी मूल के सम्प्रदायों यहूदी, ईसाई, इस्लाम या नए सम्प्रदायों जैसे सिक्खों एवं मार्क्सवादियों में मामला बिल्कुल उलटा है।

विश्वग्राम के हर जिले में उनके पास कम–से–कम एक समृद्ध पुस्तकालय जरूर है जिसमें उनके सम्प्रदाय से जुड़े हर महत्वपूर्ण पुस्तक न सिर्फ संकलित, संग्रहित एवं संपादित है बल्कि वे अपने सम्प्रदाय के लोकप्रिय पाठ को प्रकाशित एवं वितरित भी करते हैं, अपने पुरोहितों, प्रवक्ताओं और आचार्यों को मार्गी प्रशिक्षण भी देते हैं।

उदाहरण के लिए मुल्ला–मौलवी, उलेमा या काजी बनने के लिए 13 साल का विशिष्ठ प्रशिक्षण अनिवार्य है। फिर वक्फ बोर्ड इनकी नियुक्ति भी करता है और उन्हें वेतन भत्ता, पेंशन भी मिलता है। ईसाइयों में 14 साल का विशिष्ठ प्रशिक्षण अनिवार्य है और मिशन से जुड़े लोगों की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति और ज्यादा ठसक से होती है। यहूदी रब्बी के लिए 30 वर्षों का कठोर धर्मानुशासन जरूरी है और उनकी सामाजिक–आर्थिक–तकनीकी व्यवस्था और ज्यादा उन्नत किस्म की है।

दूसरी ओर भारत में पारसियों, जैनों, सिक्खों और बौद्धों को छोड़कर अन्य सनातनी सम्प्रदायों के पुजारियों, आचार्यों एवं

शास्त्रज्ञों की बौद्धिक, आर्थिक या सामाजिक–राजनीतिक स्थिति हास्यास्पद है। कोई पुरोहित अपनी संतानों को पुरोहित बनाने की बजाय क्लर्क या चपरासी बनाना बेहतर समझता है। हिन्दू सम्प्रदायों में जकात, फिलैनथ्रोपी या चैरिटी की स्थिति दुखद और वीभत्स है। जिन मंदिरों में चढ़ावा या दान की अच्छी स्थिति है उनको राज्य सरकारें अधिग्रहण करके डी.एम. एवं एस.पी. को प्रबंधन्यासी बना देती है और श्रद्धालुओं के दान का इस्तेमाल रोड़, पुल, अस्पताल या कॉलेज, विश्वविद्यालय जैसे ''प्रगतिशील और विवेकपूर्ण'' कार्यों के लिए किया जाता है। साथ ही साथ बड़े बड़े घोटाले भी किए जाते हैं।

हिन्दू मंदिरों की दुर्दशा के बहुआयामी कारण हैं। जबकि गैर हिन्दू मंदिरों के पैसे और दान को छूने की इच्छा या सामर्थ्य 1947 से आज तक किसी भी विचारधारा की पार्टी या सरकार की नहीं होती। इस भ्रष्ट, कुसंस्कृति को धर्म निरपेक्षता और सेक्युलर मानवतावाद और विकास की राजनीति कहा जाता है।

गैर भारतीय मूल के धार्मिक समुदायों एवं सम्प्रदायों का जोर ''वैचारिक एकता'' और ''व्यावहारिक स्वतंत्रता'' पर रहा है। जबकि भारतीय मूल के धार्मिक समुदायों एवं सम्प्रदायों का जोर ''व्यावहारिक अनुशासन, एकरूपता, मर्यादा या नैतिक अपेक्षा पर रहा है, जबकि वैचारिक स्तर पर व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामुदायिक या क्षेत्रीय स्वतंत्रता रही है। अतः भारतीय मूल के पारम्परिक सम्प्रदायों में ''मुंडे मुंडे मति भिन्ना''

लोकप्रिय अपेक्षा है, लेकिन व्यवहार, आचार या कर्म के स्तर पर एकता–एकरूपता–एकधर्मिता की अपेक्षा सर्वमान्य सिद्धान्त रहा है।

मध्य एवं आधुनिक काल में संस्कृतियों एवं धार्मिक सम्प्रदायों में संघर्ष, विद्वेष, विवाद, संवाद एवं सह–अस्तित्व की प्रक्रिया लगातार चलती रही है। गुरूकुलों एवं स्वायत्त मंदिरों की आर्थिक व्यवस्था लार्ड कर्नवालिस (1793) के समय से जो टूटनी शुरू हुई वह आज पूरी तरह विरूपित हो चुकी है। अंध विश्वास और साक्षरता बढ़ रही है, जबकि शिक्षा, संस्कार और व्यावहारिक नैतिकता का ह्रास हो रहा है।

भारतीय मूल के लोग आर्थिक, बौद्धिक एवं तकनीकी रूप से धनाढ्य, समर्थ एवं प्रतिष्ठित हो रहे हैं जबकि अधर्म, अनाचार, सेवा, दान–पुण्य की संस्कृति लोप हो रही है या कलुषित हो रही है। धार्मिक विषयों की समझ एवं बारिकी निपुणता लगातार घट रही है जबकि स्वार्थ, लोभ, लालच बढ़ रहा है।

ऐसे समय में सनातन धर्म के व्यावहारिक स्वरूप के बारे में एक सर्वसमावेशी, युगानुकूल, सर्वस्वीकृत ''पाठ'' करने लायक गुटिका तैयार करीब–करीब उतना ही मुश्किल काम है जितना ''गागर'' में ''सागर'' भरना।

कोशिश कितनी कामयाब है, यह तो पाठक और सनातन सम्प्रदायों के आचार्य ही तय करेंगे। मैंने इसमें इतने

सुधिजनों से सहायता प्राप्त की है कि नाम लेकर कृतज्ञता ज्ञापन संभव नहीं है। मैं मात्र माध्यम हूँ। लेखक तो गणपति ही है।

ब्रहमर्षि वशिष्ठ आश्रम एवं जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय से जुड़े मित्रों एवं शिष्यों का विशेष आभार –

अमित कुमार शर्मा

श्रीकृष्ण जन्माष्टमी

भाद्रपद, संवत 2078

सोमवार, 30 अगस्त 2021

भूमिका

भारतीय संस्कृति एवं कला की सनातन दृष्टि

सनातन धर्म काल, देश और परिस्थिति में संतुलन बैठाकर समन्वय करते हुए चिरंतन बना रहता है। जब तक संसार है सनातन धर्म का नाश नहीं हो सकता।

काल एक चेतन बिंदु है और देश इसका परिधि या वर्ग। इसमें चार युगों का चक्रीय परिवर्तन होता रहता है। कृतियुग, त्रेतायुग, द्वापर युग और कलियुग, चार युग हैं। कलि युग के बाद फिर कृति, त्रेता, द्वापर, कलि का चक्र चलता रहता है।

काल कला के माध्यम से शाश्वत जीवन की शाश्वत लीला की युगानुकुल कथा का सृजन भी करता है और इसी सृजन की ऊर्जा जब क्षय हो जाती है। उस ऊर्जा को फिर से सृजन का इंधन नहीं बनाया जाता तो उसे जड़ता या ''एंट्रोपी'' कहा जाता है। फिर यही काल इसकी जड़ता का विनाश करके नवसृजन के लिए उर्वर मिट्टी और नई ऊर्जा का निर्माण करता है। सृजन करने वाली कला को 'लास्य' कहते हैं। विनाश करने वाली कला को 'तांडव' कहते हैं। कला को स्त्री माना गया है। प्रकृति माना गया है। पार्वती अथवा शक्ति माना गया है। इसका प्रतीक चाँद की सोलह कलाएं होती हैं। लास्य, चाँद की पूर्णता या पूनम का चाँद है।

तांडव, चाँद की बिंदु रूप सूक्ष्म कला, अमावस है। काली है। काली तांडव करती है। वह भी पुराने युग की जर्जर (शव) छाती (केंद्र=चौथा चक्र) पर सवार होकर। नृत्य में तो लास्य और तांडव दो ही कला पर साधना की जाती हैं। काव्य में नौ रसों की साधना की जाती है। तंत्र में–खासकर–वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग या शुद्धाद्वैत में रासलीला का जो सर्वोच्च रूप है उसे महारास कहते हैं। इसमें सोलह कलाओं या सोलह रसों की 'श्रीकृष्ण' के रूप में–मूर्तिविग्रह के रूप में या लीला नामक शुद्धतम अद्वैत कला के रूप में अभिव्यक्ति होती है।

आधुनिक कला एवं संस्कृति के कथा, नाटक, सिनेमा एवं विमर्श के केंद्र में ''स्वयंभू व्यक्ति'', नागरिक, 'मोरल इंडीविजुअल' है। पारम्परिक या भारतीय या सनातन दृष्टि इस आधुनिक सनक को 'भोलापन' मान कर इसे नजर अंदाज करती है। सनातन दृष्टि मानती है कि न तो व्यक्ति स्वयंभू होता है चाहे वह सम्राट हो, देवता हो, ऋषि हो या पैगम्बर हो। मनुष्य शरीर में अवतरित भगवान को भी धर्म या कॉस्मिक आर्डर या ऋत मानना पड़ता है।

कोई भी देश किसी व्यक्ति के एजेंडा से नहीं चलता। ऋत, कॉस्मिक शक्ति, परम वैश्वानर अथवा भगवान् के एजेंडे से चलता है। सारा मामला चक्रों का है। व्यक्ति के शरीर में। दंपत्ति के शरीर में भी। इसी लिए सात जन्मों तक पति–पत्नी की कामना की जाती है ताकि सातों चक्रों का अतिक्रमण किया

जा सके। इस अतिक्रमण की कामना के लिए किया गया विवाह ही उद्वाह है।

हिन्दू कैलेंडर या पंचांग परम वैश्वानर अर्धनारीश्वर भगवान शिव का प्राकृतिक शरीर है। बारह महीनों में सूर्य सातों चक्रों का अतिक्रमण करते हैं। छः नहीं सात ऋतुयें होती हैं। छः ऋतु प्रचलित हैंः वसंत, ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमंत और शिशिर। दोनों नवरात्र मिलकर सातवां ऋतु हैः शरद नवरात्र एवं वासंतिक नवरात्र।

सनातन जीवन सात चक्रों (ग्रहों) के अतिक्रमण के योग की मोहविहीन मनोरंजन यात्रा है। इस यात्रा में भोग भी एक तपस्या है। यह गृहस्थ धर्म का मर्यादित भोग है।

भारतीय संस्कृति में चार युगों के चक्रीय परिवर्तन को सनातन माना गया है। कृतियुग अथवा सतयुग को वैदिक युग अथवा ब्राह्मण ऋषियों का युग माना जाता है। त्रेता युग को वैदिक संस्कृति में संरचनात्मक संघर्ष का युग माना जाता है। इसमें संसार में परम सत्ता पर आधिपत्य के लिए देवासुर संग्राम, ब्रह्मर्षियों और राजर्षियों की प्रतिस्पर्धा देखने को मिलती है।

इसमें परशुराम, वशिष्ठ, विश्वामित्र जैसे ऋषियों के साथ–साथ जनक और दशरथ, रावण और बाली जैसे सम्राटों की युग की शक्ति संरचना में महत्वपूर्ण भूमिका है, राम इस युग के अंतिम महानायक हैं। द्वापर में राजर्षि विश्वामित्र और

उनकी पुत्री शकुंतला के वंश (भरत वंश) की गाथा है। महाभारत का युद्ध क्षत्रिय युग की पराकाष्ठा है।

द्वापर के अंत में कृष्ण हुए। श्रीकृष्ण नीति के अनुसार दुनिया आदर्श से नहीं शक्ति और युक्ति से चलती है। प्यार और युद्ध में मर्यादा का पालन एक तरफा नहीं हो सकता। युग बदल चुका है। मेटानैरेटिव (युग की नैतिकता का कलात्मक विन्यास) बदल चुका है। बर्बरीक की हत्या, भीष्म की हत्या, द्रोण की हत्या, जयद्रथ वध, कर्ण की हत्या, दुर्योधन की हत्या, रुक्मिणीहरण, सुभद्राहरण इसके प्रमुख उदाहरण हैं। सर्वोच्च सत्ता का आधार शक्ति है। मानवोचित मर्यादा या आदर्श या नीति नहीं। अब राजधर्म, व्यक्ति और समाज के योग से चलता है। राष्ट्र और सभ्यता का आधार सर्वोच्च शक्ति या तंत्र हो गया है। रुटीन या दैनिक जीवन के प्रतिमान या मर्यादा हैं परन्तु युग दृष्टि का आधार शक्ति, सत्य और कल्याणकारी चेतना है।

श्रीकृष्ण के कुछ समय बाद, राजा परीक्षित के समय, कलियुग का प्रारम्भ हुआ। इस युग की दृष्टि को श्रीकृष्ण के भागवत धर्म ने परिभाषित किया। श्रमण आचार्यों वर्धमान महावीर और गौतम बुद्ध ने परिमार्जित किया।

गौतम बुद्ध से समकालीन अर्थों में कलिकाल का इतिहास शुरू होता है। महाभारत युग के महाविनाश के बाद राजा परीक्षित के समय से, बुद्धत्व प्राप्ति के समय के बीच, एक प्रकार की अमावस है। ब्रह्मा की एक रात थी कलिकाल

की प्रसूतावस्था। गौतम के बुद्ध बनते ही कलिकाल का एक युग के रूप में इतिहास या भारतीय पुनर्जागरण शुरू होता है। बुद्ध ने कलियुग को एक व्यवस्था दिया। एक युग के रूप में इतिहास या भारतीय पुनर्जागरण शुरू होता है। बुद्ध ने कलियुग को एक व्यवस्था दिया एक नया पैराडाइम, एक नया सिद्धांत, एक नया थीसिस दिया। समृद्ध समाज और कल्याणकारी साम्राज्य की नींव रखी। बुद्ध से भारत में इहलौकिक साधना (दिस वर्ल्डली ऐसेटिसिज्म) की शुरुआत हुई थी। वे आत्मबल और गुरुकुल की केन्द्रियता फिर से स्थापित करते हैं। नालंदा महाविहार का जन्म होता है। तक्षशिला का ध्वंस सिकंदर ने किया था। नालंदा का ध्वंस कुतुबुद्दीन ऐबक के सेनापति बख्तियार खिलजी ने किया था।

गुलाम वंश की स्थापना और पृथ्वीराज के पतन के बीच दो महान विभूतियों ने भारत के चित्त, मानस और काल पर अपनी छाप छोड़ी। उत्तर भारत में महान सूफी संत, चिश्ती सिलसिला के इस्लामिक रणनीतिकार ख्वाजा मोइनउद्दीन चिश्ती (अजमेर राजस्थान को केंद्र बनाकर) ने महात्मा बुद्ध के थीसिस या पैराडाइम या सिद्धांत या व्यवस्था को अंततः अप्रासंगिक बना दिया।

इसी बीच आचार्य रामानुज ने विशिष्टाद्वैत नामक दर्शन द्वारा शंकराचार्य के अद्वैत वेदांत को संशोधित करके, दक्षिण भारत की सामान्य जनता के बीच बुद्ध के सिद्धांत को अंततः अप्रसांगिक बना दिया। जिस तरह चिश्ती सिलसिला की

रणनीति पैगंबर मोहम्मद की बुनियाद पर खड़ी की गई थी, उसी तरह विशिष्टाद्वैत दर्शन का रणनीतिक सिद्धांत आचार्य शंकर के अद्वैत वेदांत की बुनियाद पर खड़ा किया गया था।

चिश्ती सिलसिला की परिणति मुगल साम्राज्य में हुई। सम्राट के रूप में अकबर सूफी सिलसिला के उच्चतम सामाजिक अभिव्यक्ति के यजमान बने। उसी तरह विशिष्टाद्वैत रणनीति को श्रृंगेरी पीठ के आचार्य विद्यारण्य, महव (माधव) और सायण ने मांजा तो हम्पी–श्रृंगेरी केंद्रित विजयनगर साम्राज्य का जन्म हुआ। विशिष्टाद्वैत रणनीति को वल्लभाचार्य ने मांजा तो गुजरात और राजस्थान के इलाके में व्यावसायिक–औद्योगिक संस्कृति का विकास हुआ और कला रूपों में रासलीला और भक्ति काव्य में सूर और अष्टछाप कवियों का काव्य प्रस्फुटित हुआ। इसी विशिष्टाद्वैत रणनीति को जब रामानंद ने मांजा तो कबीर, रैदास, तुलसी, मीरा और तुकाराम का काव्यात्मक विस्फोट हुआ, जिससे उत्तर भारत की सामाजिक जड़ता द्रवित हुई और नई सामाजिक शक्तियों का जन्म हुआ। इन सामाजिक शक्तियों के दो प्रमुख सिद्धांतकार हुए। आचार्य रामदास समर्थ जो मराठा साम्राज्य के प्रेरणास्रोत बने और दूसरे गुरुनानक, जो सिख धर्म के प्रथम गुरु और सिख संप्रदाय के संस्थापक आचार्य हुए।

समकालीन समय में सनातन धर्म के पांच ''टीकाकार'' हुए हैं –

1. श्री रामकृष्ण परमहंस, वे उन्नीसवीं शताब्दी के निरक्षर शाक्त सिद्ध थे। उनके मौखिक उपदेशों को उनके गृहस्थ शिष्य श्री महेन्द्रनाथ गुप्त ने श्री श्री रामकृष्ण कथामृत के नाम से संकलित किया है। सारे प्रवचन आम बोलचाल में प्रचलित बांग्ला भाषा में था। हिन्दी के महान कवि श्री सूर्यकांत त्रिपाठी ''निराला'' ने इसका हिन्दी भाषा में प्रामाणिक अनुवाद किया है।
2. स्वामी ब्रह्माण्ड सरस्वती और उनके प्रमुख शिष्य परंपरा के प्रतिनिधि जिन्होंने श्रृतिपरम्परा की युगानुकूल व्याख्या की।
3. मोहनदास करमचंद गाँधी और विनोबा भावे जिन्होंने लोक संस्कृति और लोकशास्त्रों की पश्चिमी यूरोप में जन्मी आधुनिक विचार शैली को संदर्भ बनाकर ग्रामीण कृषि, पशुपालन और कुटीर उद्योगों को आधार बनाकर सर्वोदय, भूदान, ग्रामदान एवं कर्मवाद तथा भक्तियोग को एक जीवन शैली के रूप में विकसित किया।
4. श्री आनंद केंटिश कुमारस्वामी, बी.के. सरकार एवं बी. एन. शील जैसे समाजशास्त्री जिन्होंने सनातन धर्म के व्यवहारिक एवं भौतिक उपलब्धियों को पश्चिमी आधुनिकता की कसौटी पर कसकर श्रेष्ठ, शुद्ध एवं प्रकृति संपोशक संस्कृति के रूप में चिन्हित एवं रेखांकित किया।

5. **बाबा साहब भीमराव अंबेडकर, श्रद्धेय दलाईलामा एवं आचार्य महाप्रज्ञ जिनके सम्मिलित प्रभाव में श्रमण परंपरा की लोकप्रियता विश्वग्राम में बढ़ी है।**

उम्मीद है मेरी इस प्रस्तुति से पाठकों को सनातन धर्म के व्यवहारिक स्वरूप को समझने एवं समझाने में एक प्रारंभिक जानकारी देने वाली पाठ्य पुस्तक की कमी को कुछ हद तक पूरी करेगी।

अमित कुमार शर्मा
महर्षि वशिष्ठ आश्रम
डोभी, कुल्लू, हिमाचल प्रदेश–175129

आषाढ़ कृष्ण पक्ष दशमी
अश्विनी नक्षत्र
मेष राशि, विक्रम संवत् 2072

भाग–1

अध्याय 1

भारतीय संस्कृति में धार्मिक संप्रदाय

अध्याय 2

भारतीय मूल के पंथ एवं धार्मिक समूह

अध्याय 3

भारतीय संस्कृति में विवाह

अध्याय 4

भारत में मंदिर

अध्याय 5

पूजा पद्धति

अध्याय 6

पंचतत्व

अध्याय 7

हनुमान

अध्याय 8

सनातन सत्य

अध्याय 9

भारत में परिवार एवं नातेदारी

अध्याय 1

भारतीय संस्कृति में धार्मिक सम्प्रदाय

धर्म का व्यापक अर्थ में हमारी पूरी परम्परा में प्रयोग हुआ है, उसको ध्यान में न रखते हुए प्रायः लोग इसे अत्यंत सीमित अर्थ में संकुचित कर देते हैं। इसलिए इस अवधारणा की गहरी भूमिका में उतरना हमारे लिए इस समय बहुत जरूरी हैं। एक विशद ही समकालीन विखण्डन और अविश्वास में इसका कई बार उल्लेख हुआ है कि जीवन को पूरी तरह मन से स्वीकारते हुए, उसकी सार्थकता पहचानते हुए ही धर्म को पाया जाता है।

धर्म की अवधारणा का दूसरा पहलू है, उसका सहज होना। धर्म आरोपित नहीं होता, वह अपने भीतर रहता है, अपने में डूबकर वह देखा जाता है। इसलिए विवेकी मनुष्य अपने में डूबता है तो सोचता है मेरे भीतर के आदमी को क्या अच्छा लगता है, मेरे भीतर का आदमी दूसरे को कैसे अच्छा लगे, कैसे वह प्रीतिदायक हो, तब वह सही निर्णय ले सकता है। जब निजी आत्मा के प्रिय होने की बात की जाती है तो इसका अभिप्राय है, आत्मा में कुछ ऐसा भी है जो निज नहीं है। वह निज जितना ही सब दायरों, सीमाओं से मुक्त होता है,

उतना ही विस्तृत होता है, व्यापक होता है, उसमें सब आते हैं, वह किसी एक में नहीं समाता। इसलिए इस धर्म की पहचान समरसता से होती है।

धर्म की अवधारणा का तीसरा पक्ष उसकी गतिशीलता से जुड़ा हुआ है। धर्म ऋत् और सत्य का एकीकरण है। वेदों में ऋत और सत्य की अवधारणा एक दूसरे की पूरक और फिर समन्वित रूप में वर्णित मिलती है। ऋत का अर्थ है गति; सत्य का अर्थ है, सत्ता बने रहना। गति ऐसी न हो जो स्वरूप की पहचान नष्ट कर दे, बने रहने का अर्थ यह न हो कि टिक जाए, ठहर जाए, अपने लिए ही रह जाए। दोनों को साधे रहना और ऐसे साधे रहना कि कोई आयास न मालूम हो। सत्य और ऋत् का यही समन्वय धर्म है। मध्ययुगीन पश्चिमी चिन्तन में वही प्रथम सिद्धांत है, तसव्वुफ में वही बेखुदी की खुदी है। भक्त कवियों की भाषा में वही महाभाव के लिए चिरन्तन उद्वेलन है। विराट् से एकाकार होकर लघु के लिए विफलताओं में अवतरण है। राधा का कृष्ण के साथ तन्मय होना एक–दूसरे के लिए बेचैनी है। हर बेचैनी तन्मयता लाती है, हर तन्मयता बेचैनी। यही जीवन का न चुकने वाला अव्यय रस है।

इन तीनों पक्षों का समन्वित रूप ही धर्म है। यह धर्म मानव मा़त्र का है, ऐसे धर्म से निरपेक्ष होने की बात सोची भी नहीं जा सकती। इस धर्म की प्रतीति अलग–अलग परिस्थितियों में होती है। ये सभी धर्म एक हैं क्योंकि सभी

सामंजस्य स्थापित करने के अलग–अलग रिश्तों के संदर्भ में प्रयत्न हैं। जननी और जन्मभूमि, पिता और आकाश, पुत्र और वृक्ष, पुत्री और आंगन की चिड़िया, इन सबके प्रति जो कर्तव्य भाव जागते हैं, वे एक–दूसरे के पोषक होते हैं। धर्म की माँग है कि लोग इनकी अलग पहचान में खो न जाएँ, सब उस एक को पहचानें।

संप्रदाय धर्माचरण का चौखटा है। जो समष्टि रूप में दिया गया मिले, जो अपनी परिस्थितियों के साथ सामंजस्य बैठाने वाली जीवन पद्धति के रूप में मिले, उसे संप्रदाय कहा जाता है। मनु ने कहा है कि जिस प्रकार, जिस पद्धति से पिता–पितामह कुशलतापूर्वक जिए हैं, उसी में मंगल निहित है। यहां महत्व पद्धति से अधिक प्रकार का है। हमें दिया हुआ मिलता है, इसका अर्थ यह नहीं कि यह रूढ़ है। जैसे कृषि के लिए खेत मिलता है, खेत में बोने के लिए बीज मिलते हैं, हल–बैल मिलते हैं, किस ऋतु में कैसे बोना है, कब क्या करना है, यह पद्धति मिलती है और साथ यह भाव मिलता है कि फसल में सबका हिस्सा है, उसके बढ़ने में, पकने में, उसके उपभोग में सबका हिस्सा है, चिरई–चुरूंग, पेड़–पालों सबका हिस्सा है, बढ़ई–लुहार सबका हिस्सा है, वैसे ही सनातन हिन्दू धर्म में संप्रदाय मिलते हैं। हम संप्रदाय के उत्तराधिकारी हैं, पर संप्रदाय का उत्तराधिकार सौंपने वाले भी हैं। जैसे शैव, वैष्णव और शाक्त संप्रदाय हैं, वैसे ही बौद्ध, जैन, एवं सिक्ख संप्रदाय है। वैसे ही ईसाई, यहूदी, मुस्लिम

(वहां भी शिया, सुन्नी) जैसे संप्रदाय हैं। हम जैसे दूसरों की खेती में दखल देना उचित नहीं समझते, वैसे ही दूसरे संप्रदाय में हस्तक्षेप करना उचित नहीं समझते। हम यह भी नहीं सोचते कि अपने संप्रदाय में इनको मिला लें, क्योंकि धर्म या अध्यात्म में मिलाना होता नहीं, एक–दूसरे के साथ मिलना होता है; एक–दूसरे से आदान–प्रदान होता है, अलग रहते हुए भी एक–दूसरे को समझना होता है। जिस किसी को जो दिया गया है, वह उसे कैसे ले रहा है और कैसे निर्वाह रहा है? साधना की पद्धति एक हो, यह जरूरी नहीं है। यह समझदारी साथ रहने से और संवाद स्थापित करने से आती है। हिन्दुस्तान में यह प्रयत्न मेला कहा जाता है। यही छोटे दायरों से बाहर निकलने का उपाय रहा है। फकीर महात्मा के पास जाए तो कोई बड़ा या छोटा बनकर नहीं जाता, बल्कि निःशेस होकर जाता है। लोग तीर्थ के लिए, ज़ियारत के लिए जाते हैं तो निःस्वार्थ होकर जाते हैं। वहाँ लोग केवल स्थावर या जंगम तीर्थ से नहीं मिलते, ऐसे असंख्य ह्रदयों से भी मिलते हैं, जो उसी की तरह निःशेष होकर विपुल के प्रवाह में नहा रहे हैं। यही मेला है। जाने कब के बिछुड़े एक–दूसरे से मिलते हैं और एक–दूसरे की अपेक्षा से भीग कर अविलग होकर जुदा होते हैं। संवाद से अधिक संवाद के ह्रदय में उतरने का मज़ा होता है। ऐसे संवादों की स्मृति राह से भटकने नहीं देती। ऐसी स्मृति को संजोकर रखने में संप्रदायों एवं सांप्रदायिक सत्संगों की महत्तवपूर्ण भूमिका रही है।

संप्रदाय दीवार नहीं है, संप्रदाय दीपस्तम्भ है, वह किसी दूसरे दीपस्तम्भ का प्रकाश छेंकता नहीं, न उस प्रकाश का विरोध करता है, वह आकांक्षा करता है कि वह अपने आस–पास को ठीक तरह से प्रकाशित करे, इस तरह कि वहाँ का आदमी महसूस करे कि दूसरे का दीपस्तम्भ उसके लिए कितना महत्वपूर्ण है।

संप्रदाय धर्म का आवश्यक अभिलक्षण है, और यह अभिलक्षण माँग करता है कि धर्म कभी दृष्टि से ओझल न हो। बराबर सामने रहे। हमें अपना संप्रदाय प्रिय लगता है, अपना घर अच्छा लगता है, बार–बार यहाँ लौटने की इच्छा होती है तो दूसरे को भी उसका घर अच्छा लगता है, हम दूसरे से जुड़े हैं इसलिए कि हम दोनों को घरों से लगाव है। घर से दोनो।का सरोकार है। बेघर, जड़हीन लोग जैसा भी सोचें पर घर वाला किसी घर की बर्बादी की बात नहीं सोचेगा। इसीलिए भारत में विभिन्न संप्रदाय धर्म की व्यापकता के लिए धर्म के परिचालन के लिए, धर्म की प्रतीति के लिए रहे और मनुष्य के भाव की आस्तिकता को प्रमाणित करने के लिए कायम रहे हैं।

यद्यपि भारतीय शब्द धर्म और अंग्रेजी शब्द रिलीजन का एक–दूसरे के स्थान पर प्रयोग प्रचलित है लेकिन इन दोनों के अर्थ ठीक जैसे नहीं हैं। धर्म ब्रह्मांड के व्यवस्थागत नियमों की व्याख्या करता है जबकि रिलीजन विश्वासों एवं अनुष्ठानों को निरूपित करता है। धर्म मनुष्य के कर्मों से भी जुड़ा है और

यह सामाजिक जीवन को नियमित एवं नियंत्रित करता है। इस प्रकार धर्म का अर्थ रिलीजन के अर्थ से ज्यादा व्यापक है।

ईमाइल दुर्खीम के अनुसार धर्म पवित्रता से जुड़े एकत्रित मत व आचरण का समुच्चय है, जिसके अनुरूप निषेधित व्यवहारों की व्याख्या होती है एवं उससे जुड़े सभी लोगों का एक नैतिक समुदाय गठित होता है, जिसे चर्च कहा जाता है। धर्म की प्रस्तावना में पवित्र व अपवित्र तत्वों के बीच विभेद होता है।

अनेक समाजशास्त्रियों ने धर्म के अन्य पक्षों पर बल दिया है। उनके अनुसार यह ऐसी व्यवस्था है जिससे इसे मानने वाले जीवन, मृत्यु, बीमारी, सफलता, असफलता, सुख, दुख आदि के अर्थों से संबंधित समस्या का निदान ढूँढ़ते हैं। इस प्रकार धर्म कुल मिलाकर मानव जीवन को दिशा व अर्थ देता है।

सामान्यतः धर्म के तीन पक्ष होते हैंः धार्मिक अनुष्ठान या कर्मकांड, धार्मिक विश्वास एवं संगठन। अनुष्ठान धार्मिक व्यवहारों से संबद्ध है जबकि विश्वास का संबंध आस्था के स्रोतों और प्रतिमानों से है। वह क्रियाविधि जिसके द्वारा धर्म सदस्यों के व्यवहार, अपेक्षाओं, प्रस्थिति एवं भूमिका का प्रबंधन करता है, वह धर्म का संगठनात्मक पक्ष है।

भारत का समाज अभी भी, काफी हद तक, धर्म एवं परंपरा केन्द्रित वाचिक समाज बना हुआ है। अब वहाँ समाज

की शासन सत्ता में धर्म कुछ विक्षेप नहीं डाल सकता। व्यक्ति–स्वातंत्र्य और सामाजिक प्रबंध में भी कुछ हस्तक्षेप नहीं कर सकता। अन्य बहुत–सी बातों के समान धर्म भी अब एक व्यक्तिगत चीज माना जाता है। धार्मिक मान्यता से कोई विशेष स्वत्व पैदा नहीं होते, न मानने से कोई हानि नहीं होती।

इसके विपरीत भारत में आज भी लोग जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त धार्मिक बंधन से मुक्त नहीं हैं। भारतीय लोगों को केवल अपने पूजा–पाठ या संस्कारों में ही धर्म की आवश्यकता नहीं पड़ती बल्कि उनका हर काम, चाहे वह सामाजिक हो या व्यक्तिगत, धर्म के बंधन से जकड़ा हुआ है। यहाँ तक कि खाना–पीना, जाना–आना, सोना–जागना और देना–लेना इत्यादि सभी बातों में धर्म की छाप लगी हुई है। भारत के प्राचीन ग्रंथों में कहीं पर भी 'धर्म' शब्द मत, विश्वास या सम्प्रदाय के अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ, वरन् सर्वत्र स्वभाव और कर्तव्य के ही अर्थों में इसका प्रयोग पाया जाता है। प्रत्येक पदार्थ में उसकी जो सत्ता या 'स्वभाव' है वहीं उसका धर्म है।

धर्म का संबंध मनुष्य की उत्कृष्ट आकांक्षाओं से है। इसे नैतिकता का प्रसाद माना जाता है। इसमें व्यक्तिगत आंतरिक शांति एवं सामाजिक व्यवस्था के स्रोत निहित होते हैं। मानव जाति प्रायः अनिश्चितता की स्थिति में रहती है। जीवन की परिस्थितियों पर नियंत्रण करने की मानवीय वास्तविकता से संबंध बनाने की आवश्यकता होती है। इस आवश्यकता की पूर्ति धर्म के द्वारा होती है।

भारत एक बहुधर्मी देश है। 2001 की जनगणना के अनुसार भारत में 80.5 प्रतिशत हिन्दू, 13.4 प्रतिशत मुसलमान, 2.3 प्रतिशत ईसाई, 1.9 प्रतिशत सिक्ख, 0.8 प्रतिशत बौद्ध, 0.4 प्रतिशत जैन व 0.6 प्रतिशत अन्य धर्मों को मानने वाले लोग रहते हैं। अन्य धर्मों की श्रेणी में पारसी, यहूदी और जनजातीय समूहों के सदस्य आते हैं। स्पष्टतः भारत में सभी प्रमुख धार्मिक समूह पाए जाते हैं। परंपरागत रूप से सभी समूह एक दूसरे के विश्वासों एवं व्यवहारों का सम्मान करते हुए साथ–साथ रहते आए हैं।

भारत में विभिन्न धर्मों को निम्नांकित दो समूहों में रखा जा सकता हैः

भारतीय मूल के धर्म : हिन्दू, जैन, बौद्ध व सिक्ख। इनके मूल भारत की प्राचीन धार्मिक परंपरा में देखे जा सकते हैं।

समी (यहूदी) धर्म : यहूदी, ईसाई एवं इस्लाम। इनके मूल आदम व अब्राहम द्वारा स्थापित पैगम्बरी परंपरा में निहित हैं।

भारत के प्रत्येक गाँव या शहर में धर्म के प्रतीक मंदिर, मस्जिद, गिरिजा अथवा गुरुद्वारे के रूप में मिलते हैं। भारत में धर्म के दो पहलू हैं – व्यक्तिगत व सामूहिक। भारत में धर्म के सामूहिक पहलू पर सर्वाधिक बल दिया जाता है।

भारत में धर्म, कानून व राज्य

भारत में धार्मिक विश्वासों की सहिष्णुता एवं विविधता की स्वीकृति उदाहरणीय है। बहुधर्मी देश भारत में सभी मतों के लोग अपनी धार्मिक आस्था को मानने एवं सुरक्षित रखने के लिए स्वतंत्र हैं। 'व्यक्तिगत कानून' के निर्देशों के तहत भारतीय संविधान सभी समुदायों के धार्मिक नियमों का सम्मान करता है। यह 'व्यक्तिगत कानून' परिवार, विवाह व उत्तराधिकार से जुड़े धार्मिक नियमों, रीति–रिवाजों एवं व्यवहारों से संबंधित है। विशेष रूप से यह अल्पसंख्यकों के संदर्भ में है।

भारतीय संविधान में धार्मिक बहुलतावाद से संबंधित कोई प्रावधान नहीं है लेकिन इसका कुल प्रभाव पंथ निरपेक्षता की ओर इंगित करता है। यह सभी धर्मों को समान महत्व देता है और इस प्रकार यह भारत की बहुलतावाद की परंपरा के अनुरूप है। भारतीय संविधान का अनुच्छेद 25(1) प्रत्येक व्यक्ति को अपने धर्म को स्वतंत्रतापूर्वक स्वीकार करने, व्यवहार में लाने एवं उसका प्रचार–प्रसार करने का अधिकार देता है। यह सुविधा सार्वजनिक व्यवस्था, नैतिकता एवं स्वास्थ्य को ध्यान में रखते हुए सभी व्यक्तियों को दी गई है।

भारत में सामुदायिक जीवन पद्धति के रूप में धर्म

भारतीय समाज में धर्म का संबंध वस्तुतः समुदाय से है, न कि व्यक्ति से। भारतीय संविधान और भारतीय परंपराएँ वैयक्तिक विश्वासों की स्वायत्तता तथा व्यक्ति द्वारा ईश्वर तत्व की खोज की महत्ता को रेखांकित करती है। इस तरह के व्यक्तिगत प्रयत्नों को आध्यात्मिक कहा जाता है जबकि समाजशास्त्र में सामान्यतः धर्म की परिकल्पना नैतिक जीवन को सुनिश्चित करने वाले सामूहिक प्रयास के रूप में की जाती है।

इस संदर्भ में भारत में प्रमुख धार्मिक समूहों की संक्षिप्त चर्चा प्रासंगिक है।

भारत में हिन्दू समुदाय

आनंद कुमारस्वामी, ए.के. सरण एवं विद्यानिवास मिश्र जैसे विद्वानों का कहना है कि हिन्दू धर्म वर्तमानजीवी धर्म है, वह सत्य और ऋतु का गठबंधन है। यह मनुष्य के स्वभाव में है कि वह अतीत, वर्तमान और भविष्य में एक साथ जिये बिना नहीं रह सकता। अतीत से जुड़ने के पीछे पलायन का भाव यूरोपीय समाजों में मिलता हो, पर भारत में अतीत से जुड़ने का अर्थ वर्तमान की संभावना का विस्तार है, वर्तमान से पलायन नहीं। इसी प्रकार भावी सुख की कल्पना अन्य

विचार–दर्शनों तथा मजहबों में वर्तमान की प्रेरणा शक्ति भले ही हो, किन्तु हिन्दू जीवन–दृष्टि अनागत सुख की कल्पना में वर्तमान को विस्मृत नहीं करती, वह अनागत को वर्तमान की सन्तति या फैलाव की दिशा के रूप में ही स्वीकार करती है। वर्तमान केवल अतीत से सनातन शाश्वत मूल्य को भविष्य की यात्रा के पाथेय के रूप में सौंपने वाला एकमात्र माध्यम है। एकमात्र माध्यम होने के कारण, 'वर्तमान' अतीत और भविष्य दोनों से अधिक महत्वपूर्ण है।

प्राचीन भूमध्य–सागरीय लोगों की विश्वदृष्टि भारतीय विश्वदृष्टि से अलग है। पश्चिमी दृष्टि में प्रकृति या प्रकृति की शक्तियाँ मनुष्य से अलग हैं और इसलिए इन दोनों में स्पर्धा है। पश्चिमी मनुष्य के मन में प्रकृति को जीतने की बात आती है और प्रकृति की शक्तियों के प्रतिरूप देवता इस विजय–यात्रा में बाधा पहुँचाते हैं। इसके ठीक विपरीत हिन्दू विश्वदृष्टि में मनुष्य और प्रकृति दोनों अविलग हैं। इसलिए मनुष्य और देवता में स्पर्धा न होकर सहकार–भाव है। मनुष्य देवता को प्रभावित करता है, देवता मनुष्य को। भारतीय ज्ञान–विज्ञान का सबसे महत्वपूर्ण केन्द्र यज्ञ–संस्था है और यह संस्था मनुष्य और देवता, आभ्यन्तर और बाह्य, व्यक्त और अव्यक्त, चर और अचर–रूपि युग्मों का पश्चिमी चिन्तन मनुष्य को केन्द्र में रखता है, मनुष्य की विवेक बुद्धि को केन्द्र में रखता है, प्रकृति पर मनुष्य की विजय को मनुष्य का पुरुषार्थ मानता है तथा पूरी सृष्टि को मनुष्य का उपभोग्य मानता है,

वहाँ हिन्दू चिन्तन बहुकेन्द्रिक है। मनुष्य के लिए देवता केन्द्र है, देवता के लिए मनुष्य। यहाँ प्रकृति पर विजय नहीं, प्रकृति से सामंजस्य और समग्र अस्तित्व से परम सामंजस्य स्थापित करना ही मानव–जीवन का परम लक्ष्य है। समस्त भूतों के ऋण की परिशुद्धि ही परम पुरुषार्थ है। यहाँ न कोई निरपेक्ष रूप में भोग्य है, न निरपेक्ष रूप में भोक्ता। या तो मनुष्य सहभोक्ता है या सभी सहभोक्ता हों इसके लिए अपने को अर्पित करने वाला भोज्य है। हिन्दू समाज में मनुष्य अन्न भी है और अन्नाद भी है (अन्न खाने वाला भी है)।

हिन्दू विश्वदृष्टि में धर्म और विज्ञान में प्रतिद्वंद्विता नहीं, पूरकता है। भारतीय ज्ञान–विज्ञान का उद्देश्य वस्तुओं की पहचान मात्र नहीं है। उसका उद्देश्य समस्त वस्तुओं की अलग–अलग पहचान कर उनमें एक अव्यय भाव तलाशना है। जो ज्ञान–विज्ञान इस तलाश को, अपने ध्येय को, इस रूप में स्वीकार नहीं करता, वह अधूरा माना जाता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि यह खण्डित या अधूरा ज्ञान अपेक्षणीय है। भारतीय परंपरा में हर प्रकार का ज्ञान पवित्र माना जाता है। हिन्दू–दृष्टि केवल अधूरे ज्ञान को अपने बड़े चौखट में जोड़ने पर बल देती है, वह उसको तिरस्कृत नहीं करती। इस दृष्टि के कारण भारत में शिल्प, कला, अथवा ज्ञान–विज्ञान किसी भी क्षेत्र में बाहर से अतिरिक्त मदद लेने में संकोच नहीं किया गया पर देते समय यह ध्यान अवश्य रखा गया कि जिसको दिया जाये उसको अपने से बड़ा मानकर दिया जाये, छोटा

मानकर नहीं। जावा, कम्बोज, मध्य एशिया, कोरिया और जापान को भारत ने दिया, पर इन देशो की निजी प्रतिभा को सम्मान देते हुए दिया। कई प्रकार का ज्ञान एवं कई प्रकार की कला उनके बड़प्पन को आत्मसात करते हुए अपनी इयत्ता उन्हें सौंपी।

हिन्दू समाज में धर्म का व्यापक अर्थ है। वह न कोई विश्वास है, न एक निश्चित आचरण–संहिता, बल्कि जीवन का स्वभाव–सिद्ध व्यवहार है। इसीलिए हिन्दू के लिए धर्म, साहित्य, कला या दर्शन कोई विलग वस्तु नहीं है। अधर्म भी धर्म का निषेध या विरोध नहीं, धर्म की जड़ता है। धर्म का ठहराव ही अधर्म है। इसलिए धर्म की गतिशीलता समस्त दर्शनों, साहित्यों और कलाओं पर छायी हुई है। न तो भारतीय दर्शन दुखवादी है और न भारतीय साहित्य सुखवादी। बिन्दु के रूप में करता है। भारतीय साहित्य भी सुखमय परिणति को दुख के विनाश के रूप में नहीं बल्कि दुख के अभिघातक गुण के विनाश के रूप में स्वीकार करता है। ग्रीक त्रासदी (ट्रेजडी) में जिस प्रकार का करुण–बोध है, वह करुण–बोध मनुष्य की विवशता को द्योतित करने वाला है। इसके विपरीत महाभारत जैसा भारतीय ग्रन्थ में जो करुण–बोध है, वह मनुष्य के भीतर छोटे और बड़े धर्म के बीच छिड़ने वाले संघर्ष पर आधारित है। ग्रीक त्रासदी में पतन की गरिमा है। इसके विपरीत भारतीय काव्य की परिणति पतन की उपेक्षा करने वाली निस्संगता की गरिमा में या निस्संग व्यक्ति की परदुख–कातरता में है।

इडिपस के चरित्र में और युधिष्ठिर के चरित्र में यही अन्तर है। इडिपस देवताओं के विरूद्ध आक्रोश करता है, युधिष्ठिर स्वर्ग–प्रवेश करने के लिए देवताओं के सामने अपनी शर्त रखते हैं।

भारतीय कला में हिन्दू धर्म की गहरी छाप मिलती है। कलाकृतियों की रचना का उद्देश्य कृत्रिम सौन्दर्य की अभिव्यक्ति न होकर सांसरिक या जागतिक यथार्थ की आंतरिक अभिव्यक्ति है। काव्य और कला दोनों में अभिप्रायों की पुनरावृत्ति, सौन्दर्य–रूढ़ियों की पुनरावृत्ति, विशेषणों की पुनरावृत्ति, ऋतु–चक्र की पुनरावृत्ति का उद्देश्य आवृत्ति के माध्यम से अनेक भंगिमाओं में दृश्यमान भाव की एकता की अनुस्मृति संरक्षित करना है ताकि खंड रूप में प्रतिभा समान सत्ताओं की अखंडता दृष्टि से ओझल न होने पाये। भारतीय कला–दृष्टि में नूतनता का अनुसंधान व्यक्ति–वैशिष्ट्य में नहीं, व्यक्ति–व्यापार–वैशिष्ट्य में है। महाभारत और रामायण के पात्रों को आधार बना कर अनेक नाटक लिखे गये एवं अनेक शिल्प–रचनाएँ उन पात्रों की प्रस्तुति अलग–अलग उद्देश्य से उनकी अनुवर्तमानता के द्वारा की जाती है। इसलिए राम–रावण, कृष्ण–कंस तो नहीं कला–दृष्टि ऐतिहासिक भूमिका का बहुत सीमित उपयोग करती है। वह न उसकी आपत्ति करती है, न उसके विरोध में कोई अनैतिहासिक या स्वप्निल भूमिका प्रस्तुत करती है। वह केवल इन दोनों प्रकार की खंडित भूमिकाओं से निरपेक्ष रहनेवाली, देश और काल का

अतिक्रमण करने की संभावना रखनेवाली, लीला–व्यापारमय भूमिका की सृष्टि करती है। राम और कृष्ण की ऐतिहासिक भूमिका छोटी, नित्यलीला के रूप में उनकी भूमिका बड़ी है। बुद्ध की शाक्य मुनि के रूप में भूमिका छोटी, बोधिसत्व की श्रृंखला के रूप में बड़ी है। इसलिए पारंपरिक भारतीय साहित्य–कला, हिन्दू मूल्य–बोध एवं पारंपरिक विज्ञान का उद्देश्य मनुष्य और प्रकृति को एक परस्परकांक्षी युग्म के रूप में स्थापित करके सृष्टि चक्र को पदच्युत होने से रोकना है।

पारंपरिक प्राचीन भारतीय जीवन में आखेट या पशुवध वर्जित नहीं था परन्तु प्रजनन की ऋतुओं में आखेट वर्जित था, ताकि सृष्टि का संतुलन बिगड़ने न पाये। पेड़ से लकड़ी तोड़ी जाती थी, लेकिन नयी शाखा तोड़ना पाप समझा जाता था। कृषि–विकास के साथ–साथ वृक्षारोपण और पशु–संवर्धन को महत्त्व देने के पीछे भी यही प्रयोजन था ताकि संतुलित विकास हो सके। प्राचीन भारतीयों ने बहुत सूक्ष्म पर्यवेक्षण के बाद आयुर्वेद और ज्योतिष का ज्ञान विकसित किया और इन दोनों प्रायोगिक विज्ञान के क्षेत्रों में उन्होंने धर्म–दृष्टि खोने नहीं दी। यही नहीं, उन्होंने आयुर्वेद को ज्योतिष से जोड़ा और बाह्य दृश्य या प्रत्यक्ष विद्याओं को अप्रत्यक्ष अध्यात्म विद्या से जोड़ा। भारत में औषधीय पौधों को ऋतु विशेष एवं नक्षत्र विशेष में उखाड़ने की प्रथा विकसित हुई। इस प्रथा के पीछे एक अखंड दृष्टि है। हिन्दू चिकित्सा–पद्धति मन और शरीर के भेद को स्वीकार नहीं करती और केवल शरीर के स्वास्थ्य–लाभ तक

सीमित भी नहीं रहती है। आयुर्वेद शरीर के माध्यम से वस्तुतः जीवन के आनन्द की पूर्णता प्राप्त करने की विधि प्रस्तुत करता है। इसलिए आयुर्वेद में शरीर, रीति, हेतु, व्याधि, कर्म, कार्य, कला, कर्ता (वैद्य), करण और विधिविनिश्चय – इन दशों का महत्व है। इस चिकित्सा पद्धति को इसलिए आयुर्वेद कहा जाता है। क्योंकि यह जीवन तत्व को परिपूर्णता दिलाता है। वह मनुष्य के बाहरी शरीर ही नहीं बल्कि अन्तर्वर्ती प्राण की भी चिकित्सा है। आयुर्वेद का आधार सांख्य की त्रिगुणात्मक सृष्टि योजना है। इसका आधार शरीर की स्थूल रचना नहीं, शरीर की सूक्ष्म रचना है। आयुर्वेद को पूरी तरह समझने के लिए योग–साधना में वर्णित शारीरिक शक्ति–प्रवाह के केन्द्र चक्र–श्रृंखला को समझना आवश्यक है। इस श्रृंखला की अवधारणा विराट विश्व के व्यष्टि शरीर में सूक्ष्म पिण्ड की उपस्थिति पर आधारित है।

इसी तरह, ज्योतिष विद्या भी केवल काल–गणना या दिग्गणना नहीं है, वह सृष्टि विद्या भी है। वह खंडकाल के परिणामों के माध्यम से अखंडकाल की साधना करने वाली परम विद्या भी हैं। यह आकस्मिक नहीं है कि हिन्दू ज्योतिष में निरयण गणना को सायण गणना की अपेक्षा अधिक महत्व दिया गया है। निरयण गणना सृष्टि के आरंभ को बिन्दु मानकर चलती है और इसलिए यह स्थापना करती है कि मनुष्य का जन्म निरवधि–काल और सावधि–काल के मिलन बिन्दु पर होता है। एक ओर वह जीवन की अनंत यात्रा के

पड़ावों की श्रृंखला के रूप में आता है तो दूसरी ओर उसकी एक खंडकालिक इयत्ता भी रहती है, जो उसी के प्रारब्ध, संचित और क्रियमाण कर्मों के द्वारा नियंत्रित रहती है। हिन्दू ज्योर्तिविद्या का प्रारंभ सौर–मंडल की कल्पना से नहीं, नक्षत्र–मंडल की कल्पना से हुआ। इसी से इस विद्या में प्रारंभ से ही पृथ्वी–केन्द्रिक विचारधारा परिपोषित न होकर ब्रह्मांड की एकता देखने वाली विचारधारा परिपोषित हुई। यदि सूक्ष्मता से विचार किया जाये तो प्राचीन हिन्दू ज्योतिष की व्यापक दृष्टि आज के गणितज्ञों के लिए भी स्पृहा की वस्तु है। पश्चिम का गणितज्ञ खगोलवेत्ता आज भी मनुष्य–केन्द्रिक विश्वदृष्टि से इतना बंधा हुआ है कि ब्रह्मांड की लयबद्धता के बारे में शंकालु बन गया है। हाइजेनबर्ग और आइंस्टाइन जैसे वैज्ञानिक अपवाद हैं। पश्चिमी मानस आज भी मानववादी है।

हिन्दू धर्म एक जीवन विद्या है। इसमें कृषि, उद्यान और गो पालन तीनों अन्तःसम्बद्ध रहे हैं। हिन्दू शासन–तंत्र ने इनके स्वतंत्र विकास के लिए पर्याप्त अवसर दिया है। हजारों वर्षों तक ग्राम–स्तर पर भारत में स्वराज अक्षुण्ण बना रहा। भवन–निर्माण, नगर–निर्माण और धातु विद्या का विकास अवश्य अवरूद्ध हुआ, लेकिन उसके भी कई कारण थे। पहला कारण तो यह था कि इन विद्याओं के पीछे हिन्दू मानस में देश–काल की जो आध्यात्मिक अवधारणा थी, वह लुप्त हो गई और इस रचना की प्रेरक शक्ति सनातन धर्म का व्यापक बोध भी लुप्त हो गया। दूसरा कारण यह था कि भौतिक समृद्धि के अवसरों

का वितरण विषम हो गया, शासन का केन्द्रीयकरण बढ़ गया और सत्ता की लोलुपता के कारण पारंपरिक जीवन–दृष्टि में समग्र सौन्दर्य–बोध क्षीण होने लगा। धार्मिक समग्रता की जगह एकांगी आध्यात्मिकता का प्रसार हुआ, फलस्वरूप भौतिक सुख–सुविधाओं के लिए सामाजिक दायित्व में ह्रास आया। धीरे–धीरे शिल्पी, धातुकार, कारीगर बेरोजगार होते गये। धर्म से शिल्प एवं कला का संबंध व्यावहारिक स्तर पर क्षीण होने लगा।

समकालीन हिन्दू धर्म में यह विश्वास कायम है कि ईश्वर किसी–न–किसी रूप में सर्वव्याप्त है तथा हम किसी भी स्वरूप में ईश्वर तक पहुँच सकते हैं। हिन्दू जीवन पद्धति विश्वासों एवं अनुष्ठानों के संदर्भ में लचीली है। कोई भी विश्वास या अनुष्ठान हिन्दुओं में एक जैसा नहीं है। मतों एवं अनुष्ठानों की विविधता हिन्दुओं की एक विशिष्ट पहचान है। जाति व्यवस्था व संयुक्त परिवार हिन्दुओं की मूलभूत संस्थाएँ हैं, परन्तु ये भारत के अन्य मतावलम्बियों में भी पायी जाती है। हिन्दू धर्म की सदस्यता जन्म से मिलती है। लेकिन आर्यसमाज व कुछ अन्य आधुनिक पंथ इसके अपवाद हैं। ये हिन्दू धर्म में नए सदस्यों का धर्मांतरण भी करवाते हैं। सदियों से भारत में आने वाले अनेक विदेशी समूल कलांतर में जाति के लक्षणों को अपनाकर हिन्दू धर्म से जुड़ गए।

अत्यधिक अनेकता के बावजूद हिन्दू परंपरा में दार्शनिक स्तर पर तीन केन्द्रीय सिद्धांत स्पष्ट रूप से परिलक्षित होते हैं

— धर्म, कर्म एवं मोक्ष। धर्म एक नैतिक शक्ति है जो समस्त विश्व को एकीकृत करता है। कर्म एक ऐसा सिद्धांत है जिसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अच्छे या बुरे कर्म का फल भोगना पड़ता है। कर्म से कभी छुटकारा नहीं होता है। व्यक्ति प्रायः अपने जीवन में ही कर्म का फल भोगता है। यदि आकस्मिक मृत्यु हो जाए तो पुनर्जन्म के द्वारा पूर्व कर्मों का फल भोगना पड़ता है। इसे भाग्य या प्रारब्ध कहा गया है। वर्तमान कर्मों के द्वारा भाग्य में कुछ सीमा तक सुधार किया जा सकता है। इस प्रकार कुछ हद तक वर्तमान के द्वारा भविष्य निश्चित होता है। मोक्ष वस्तुतः कर्मों एवं जन्म–मृत्यु के बंधनों से मुक्ति का पर्याय है। वर्तमान जीवन में भी सांसारिक मोह एवं संलिप्तता से मुक्ति पाकर मानसिक शांति प्राप्त की जा सकती है।

वर्णाश्रम धर्म या व्यवस्था हिन्दू सामाजिक संगठन का लोकप्रिय उदाहरण है। यह नैतिक समुदाय की आदर्श रूपरेखा है जिसका संदर्भ ऋग्वैदिक काल से मिलता है। यह हिन्दू समाज का चार श्रेणियों में प्रकार्यात्मक विभाजन प्रस्तुत करता है। हिन्दू समाज के चार वर्णों को — ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कहते हैं। एम.एन. श्रीनिवास के अनुसार यह एक आदर्श एवं सांकेतिक प्रारूप है, वास्तविक श्रम विभाजन नहीं। ब्राह्मण वर्ण बौद्धिक कार्य से जुड़े थे, क्षत्रिय देश की सुरक्षा से जुड़े थे। वैश्य व्यापार एवं वाणिज्य से जुड़े थे एवं शूद्र का काम विभिन्न प्रकार के शिल्प एवं पेशों से समाज की सेवा करना था। इस प्रकार के श्रम विभाजन का आधार प्रतीकात्मक था।

इस प्रतीकात्मक व्यवस्था के अंतर्गत स्थानीय जातियाँ एवं जनजातियाँ अपना कार्य व्यापार चलाती हैं।

इस प्रकार का वर्गीकरण अनेक परंपराओं एवं समाजों में पाया जाता है। इस प्रकार के उपर्युक्त वर्गीकरण के अनुसार प्रत्येक वर्ण के साथ विशिष्ट व्यवसाय जुड़ा होता है और इन दोनों को मानना व्यक्ति का धर्म होता है। आधुनिक कुप्रचार के चलते वर्ण की जगह वर्ण व्यवस्था का महत्व बढ़ रहा है।

आश्रम वर्ण की पूरक संस्था है। यदि वर्ण सामाजिक संगठन का सिद्धांत देता है तो आश्रम व्यक्ति के जीवन को संगठित करने का सिद्धांत है। वर्णाश्रम की अवधारणा जीवन को चार भागों में बाँटती हैः ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास। ब्रह्मचर्य का संबंध विद्यार्थी जीवन से है, गृहस्थ का पारिवारिक जीवन से, वानप्रस्थ आश्रम में वह सांसारिक जीवन से विमुख होने का प्रयास करता है, और संन्यास में सांसारिक जीवन से मुक्त होकर तपस्वी का जीवन बिताता है।

आश्रम का महत्व पुरुषार्थ पर निर्भर करता है। यह माना जाता है कि एक आदर्श हिन्दू को धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष को समान महत्व देना चाहिए। दूसरे शब्दों में, हिन्दू मान्यता के अनुसार संतुलित जीवन के लिए भौतिक व आध्यात्मिक दोनों पहलुओं को समान महत्व देना चाहिए।

यद्यपि शास्त्रीय ग्रंथों में सोलह संस्कारों की विवेचना है लेकिन अधिकांश हिन्दुओं के लिए तीन धार्मिक संस्कार प्रचलित हैं:

(1) दीक्षा एवं पवित्र यज्ञोपवीत (धागा) धारण करना,

(2) विवाह संस्कार एवं

(3) मृत्यु संस्कार।

जीवन–चक्र के इन तीनों अनुष्ठानों में पारंपरिक रूप से यज्ञोपवीत केवल द्विज जातियों के पुरुषों को दिया जाता है। प्रायः हिन्दुओं द्वारा वयस्क मृतक के शरीर को दफन नहीं किया जाता है। दक्षिण की कुछ जातियों को छोड़कर हिन्दू लोग प्रायः वयस्क मृतक का अग्नि संस्कार करते हैं।

उपरोक्त संस्कारों से जुड़े तीनों अनुष्ठानों के अलावा कुछ घरेलू अनुष्ठान भी होते हैं। जैसे रक्षा बंधन या भाई दूज (बहनों द्वारा भाई के लिए किया जाने वाला व्रत), तीज व करवा चौथ (पतियों के लिए पत्नियों द्वारा किया जाने वाला व्रत), जितिया (बेटों के लिए माँ द्वारा) और अन्य अनुष्ठान। इसके अलावा हिन्दू समाज में दीपावली, दशहरा, होली, ओणम, मकर संक्रांति, बैसाखी जैसे वार्षिक त्योहार भी मनाये जाते हैं। भारत में तीर्थयात्रा भी सामुदायिक जीवन की एक विशेषता है। हिन्दू लोग भारत के विभिन्न क्षेत्रों में स्थित मंदिरों में दर्शन करने जाते हैं। पवित्र नदियों में स्नान व पूर्वजों को जलार्पण भी किया जाता है। हिन्दू समाज में प्रयाग, वाराणसी, हरिद्वार,

मदुरै, पुरी, द्वारका, बद्रीनाथ, केदारनाथ, श्रृंगेरी, तिरूपति, वैष्णोदेवी, कामरूप–कामाख्या आदि कुछ प्रमुख धार्मिक स्थल हैं।

हिन्दू लोग अभावग्रस्त एवं धार्मिक रूप से पूज्य लोगों को दान–दक्षिणा भी देते हैं। यह माना जाता है कि मानव कल्याण एवं दान तभी पुण्यात्मक होता है जब गुप्त रखा जाता है। प्रचारित दान को हीन माना जाता है।

अध्याय 2

भारतीय मूल के पंथ एवं धार्मिक समूह

हिन्दू धर्म में अनेक सम्प्रदाय उल्लेखनीय हैं, जैसे वैष्णव, शैव, शाक्त, लिंगायत, कबीरपंथ, रैदासपंथ इत्यादि। इन धार्मिक समूहों और विस्तृत हिन्दू समाज के बीच परस्पर संबंध होता है। पंजाब में हिन्दुओं एवं सिक्खों के बीच विवाह के उदाहरण मिलते रहे हैं। बौद्ध व हिन्दुओं में भी वैवाहिक संबंध होते हैं। हिन्दू बनिया व जैनों के बीच गहरे सामाजिक व सांस्कृतिक संबंध होते रहे हैं।

बौद्ध व जैन जैसे प्रारंभिक सम्प्रदायों के प्रभाव में पुरोहितों के प्रभुत्व और जातीय प्रस्थिति के महत्व पर अंकुश लगा। बौद्ध धर्म ने सभी जीवों के प्रति करुणा की भावना को धार्मिक महत्व प्रदान किया। जैन धर्म ने अहिंसा के सिद्धांत को स्थापित किया। भगवान बुद्ध ने शास्त्रों एवं पुरोहितों की सीमा स्पष्ट करके अपना दीपक खुद बनने की शिक्षा दी जिससे समाज में विवेक एवं प्रज्ञा का महत्व स्थापित हुआ।

छठी और ग्यारहवीं शताब्दी के बीच दक्षिण भारत में भक्ति सम्प्रदाय का उदय हुआ। उत्तर भारत में चौदहवीं से सत्रहवीं शताब्दी के बीच इस भक्ति सम्प्रदाय का प्रचार–प्रसार एवं संवर्धन हुआ। इसके प्रभाव से हिन्दू रीति–रिवाजों तथा

सांस्कृतिक प्रतिमानों को पुनर्जीवन मिला एवं रूपात्मक युगानुकूलन हुआ। समकालीन भारतीय संस्कृति के स्वरूप का असली स्रोत यह भक्ति आंदोलन ही है। भक्ति आंदोलन के प्रभाव को अंग्रेजी राज में कुंठित करके ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज एवं आर्य समाज प्रेरित सुधारवादी आंदोलन चलाने की कोशिश की गई। भारतीय मूल के प्रमुख पंथों में रामानुज, वल्लभ, चैतन्य, रामानंद, कबीर, रैदास, नानक, मीरा, दादू, वासव भक्ति सम्प्रदाय से जुड़े हैं।

रामकृष्ण मिशन, इस्कॉन आदि संतों से जुड़े पंथ तथा अगुव्रत आंदोलन, भूदान आंदोलन व स्वाध्याय आंदोलन के रूप में भक्ति आंदोलन की धारा एक बार फिर सशक्त हुई है।

हिन्दू धर्म की विशेषता

हिन्दू धर्म एक स्तर पर सर्व समावेशक है तो दूसरे स्तर पर इसकी विशिष्ट पहचान भी है। हिन्दू धर्म में सबको अपने रास्ते, अपने विवेक से चलने की छूट है। कोई भी रास्ता एकमात्र रास्ता नहीं है। आपका अपना पथदर्शक या मसीहा एकमात्र पथप्रदर्शक या मसीहा नहीं है। इसके बावजूद स्वविवेक से निर्णय की छूट का अर्थ यह नहीं है कि स्वपहचान की विधि का अतिक्रमण हो। स्व की पहचान तब तक असमान है जब तक मनुष्य चारों ऋणों से मुक्त होने की बात नहीं सोचता। इन ऋणों से मुक्ति के लिए अपने ऋषियों

का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। यह पहचान वाचिक परंपरा से या शास्त्रों के पठन–पाठन से हो सकता है। ऋषि परंपरा के अंतर्गत मनुष्य का चरम प्रयोजन आत्मविस्तार है। अपने को इतना हल्का कर लेना या सबमें समा सकता अथवा सबमें भर सकना संभव हो सके। इन ऋणों की यथासंभव अदायगी होने पर ही जीवन की सर्वसमता और निरंतरता की पहचान स्पष्ट होती है। यही पहचान हिन्दू धर्म की आधारशिला है।

इस पहचान का अनुभव कई प्रकार से होता है। एक शास्त्र के मनन से, दूसरा ऐसा जीवन जीने या ऐसी उपासना करने से जिसमें सृष्टि सफलता का अनुसंधान हो और निःश्चल होकर, अकिंचन, रिक्त अथवा शून्य होकर सकल ब्रह्माण्ड की प्रतीति हो सके। इस प्रतीति का पहला मार्ग ज्ञान मार्ग, दूसरा कर्म मार्ग और तीसरा भक्ति मार्ग कहलाता है। तीसरा उपाय मन के लिए सुलभ नहीं है। तीसरा उपाय बड़े अभ्यास से और साधकों की परंपरा के साथ जुड़ने से आता है। इसी स्तर पर गुरु का महत्व है, नहीं तो हिन्दू होने के लिए दीक्षा की आवश्यकता नहीं। बस स्वेच्छा से धर्म को वरण करने की बात है। हिन्दू धर्म में अनेक संस्थाएँ हैं, पर हिन्दू के मुहर की आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता है मंत्र के उच्चारण की और मंत्र के उच्चारण में अपने भीतर के देवता के साक्ष्य की। ऊपरी तौर पर यह संस्थाहीनता संगठनहीनता या दुर्बलता लगती है, पर भारतीय समाज की यही वास्तविक शक्ति है। संकल्प में समाहित उदारता हिन्दू धर्म की वास्तविक शक्ति है।

भारतीय संस्कृति में हर एक कार्य के पीछे एक संकल्प होता है, जिसमें पूरे ब्रह्मांड में स्थित अपने देश–काल के युग्म पर सृष्टि के प्रथम स्पंद से लेकर आज तक के काल–खण्ड का स्मरण किया जाता है।

हिन्दू धर्म के अस्पष्ट एवं अपरिभाषेय दिखने का प्रमुख कारण अभ्यास से विमुखता या तटस्थता है। इस विमुखता का आधार साधना से अधिक सिद्धि की खोज की प्रवृति है। बिना प्रयत्न कुछ अलौकिक लाभ पाने की भूख के कारण हिन्दू समाज का प्रभु वर्ग असंतुलित जीवन जीने लगा है। जबकि सामान्य हिन्दू के लिए अब भी अंतःकरण के दीपों की माला जीवन की गंगा की धार में छोड़ी हुई मालिका है, जिसमें एक दीप दूसरे को देख देखकर दीपता रहता है। कोई बुझता है तो आत्मदीप के आह्वान के लिए उसका स्थान दूसरा दीपक ले लेता है। सनातन धर्म का पालन करने के लिए भक्त हृदय में एक साथ आधार (सत्य का), वर्तिका (जो जातीय स्मृति के सूत्रों से बाँटी जाती है), स्नेह (अपनी लगन का, अपनेपन का) और शिखा (समग्र के ध्यान का) का समन्वय चाहिए। न जातीय स्मृति के बिना काम चलेगा, न सत्य की खोज के बिना काम चलेगा, न तप के बिना काम चलेगा, न समग्र के ध्यान के बिना काम चलेगा। सनातन हिन्दू धर्म अधूरे मन वाले व्यक्तियों का धर्म नहीं है, यह समग्रता एवं अखंडता का धर्म है।

मंदिर

समाज की धारणा (धर्म धारण) के लिए केन्द्र था। समाज की सभी गतिविधियों का केन्द्र मंदिर था। धर्म से जुड़े होने के कारण यह पवित्र केन्द्र था। भजन, कीर्तन के अलावा स्थायी पाठशाला, वैद्यशाला, गोशाला, पाकशाला, विविध कला–केन्द्र (संगीत, नृत्य आदि), वेदशाला, कृषि आदि उस मंदिर के साथ जुड़ी रहती थी। अनाज एवं दान–चढ़ावा इसके आर्थिक स्रोत थे। मंदिरों से भूखों को भोजन मिलता था। मंदिर समाज को बांधने वाला केन्द्र था। हर इलाके में एक ही प्रमुख मंदिर होता था। मंदिर में सैनिकों या सिपाही का प्रवेश वर्जित था। इस पर समाज का नियंत्रण था, राज का हस्तक्षेप नहीं होता था।

कुंभ

कुंभ वैचारिक अधिवेशन की संस्था थी। 3–3 वर्ष में 4 स्थानों – हरिद्वार, प्रयाग, नासिक एवं उज्जैन में स्थानीय कुंभ एवं 12 वर्ष में प्रयाग में महाकुंभ का आयोजन होता था। कुंभ का सामान्य अर्थ समाज को धारण करने वाले विधि–निषेधों, रीति–रिवाजों के बारे में विभिन्न सम्प्रदायों के महंथों, आचार्यों एवं विशेषज्ञों का क्षेत्रीय अधिवेशन एवं महाकुंभ का अर्थ अखिल भारतीय महाअधिवेशन होता है। महाकुंभ के उपरांत यानि 12 वर्षों में समाज के नीति–निर्धारकों की पीढ़ी बदल

जाती है। रीति–रिवाज एवं सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, सामरिक एवं भौगोलिक परिस्थिति में हुए बदलावों के बारे में तात्विक एवं रणनीतिक परिचर्चा एवं निर्णय लेने का काम कुंभ अधिवेशनों के दौरान ही होता था। कुंभ में ही समाज, जाति एवं सम्प्रदाय से संबंधित विधि–निषेध तय होते थे। काल, बाह्य रूढ़ियों एवं परंपराओं को बदलने के बारे में कुंभ में ही निर्णय होता था। नई परंपराओं के बारे में भी कुंभ में ही निर्णय होता था। इसमें साधु, संन्यासी, विद्वान, वैज्ञानिक आदि भाग लेते थे। इसकी अवधि कम–से–कम 3 या 5 दिन और अधिक–से–अधिक 1 माह का होता है। इस्लाम के आक्रमण के बाद इसका उत्सव पक्ष तो जारी रहा धार्मिक अधिकार के रूप में, लेकिन इसके सामूहिक, सांगठनिक या चिंतनपरक अधिवेशन पर प्रतिबंध लगा दिया गया। अलग–अलग सम्प्रदाय के धार्मिक प्रवचन आदि यथावत होते रहे लेकिन विभिन्न सम्प्रदायों के सम्मिलित अधिवेशन में होने वाले सभ्यतामूलक विमर्श एवं राष्ट्रीय चिंतन पर बंदिश लगा दी गई। फलस्वरूप धर्म संस्था की जगह राज्य संस्था का हस्तक्षेप राष्ट्रजीवन के अन्य पक्षों पर बढ़ गया। राज्य संस्था ने अपने अधिकारों का अतिक्रमण शुरू किया और धर्म संस्था या समाज को धारण करने वाली व्यवस्था को कमजोर कर दिया।

जैन धर्म

भारत के प्राचीनतम धर्मों में 'जैन धर्म' भी एक है। यह भी एक प्रकार का सनातन धर्म है जिसमें कुल 24 तीर्थंकर हुए हैं। पहले तीर्थंकर ऋषभदेव एवं सबसे अंतिम महावीर थे। तीर्थंकर को उत्कृष्ट शिक्षक माना जाता है। कुछ लोग इन्हें अवतारी पुरुष भी मानते हैं। सामान्यतः तीर्थंकर का अर्थ कैवल्य (जैनों में मोक्ष को कैवल्य कहा जाता है) प्राप्त सिद्ध पुरुष माना जाता है। जैन तीर्थंकर उत्कृष्ट पुरुषार्थ करने वाले महान हठयोगी रहे हैं। संभवतः नाथ एवं सिद्धपंथों का विकास इसी परंपरा की प्रेरणा से हुआ था। जैनों के सिद्धांत, अनुष्ठान व सामान्य धार्मिक मान्यताएँ हिन्दुओं व बौद्धों से मिलती जुलती हैं, लेकिन उनकी अपनी साम्प्रदायिक पद्धति है। भगवान महावीर का अवतरण भगवान बुद्ध से कुछ पहले हुआ था। ऋषभदेव से लेकर पहले 23 तीर्थंकरों ने साधना पद्धति विकसित किया। इस साधना पद्धति को श्रमण परंपरा कहा जाता है। इस साधना पद्धति को सम्प्रदाय के अनुशासन में महावीर स्वामी ने ही बाँधा। इसीलिए उन्हें जैन धर्म का संस्थापक भी कहा जाता है। भगवान महावीर से आचार्य तुलसी तक जैन आचार्य जैन धर्म को हिन्दू संस्कृति का अंग मानते रहे हैं। जैन समुदाय दो मतों में विभाजित हैः श्वेताम्बर (सफेद वस्त्र वाले) और दिगम्बर (निर्वस्त्र)। एक अन्य मत स्थानकवासी है। स्थानकवासियों के अनुसार तीर्थंकरों को प्रतिमा में निरूपित करने की आवश्यकता नहीं है। इसके

विपरीत श्वेताम्बरों की दृष्टि में तीर्थंकरों की प्रतिमा को श्वेत वस्त्रों में निरूपित किया जाना चाहिए, जबकि दिगम्बर उन प्रतिमाओं को निर्वस्त्र देखना चाहते हैं।

जैन शब्द की उत्पत्ति 'जिन' धातु से हुई है जिसका मतलब 'विजेता' होता है। भगवान महावीर (599–527 ईसा पूर्व) के मत में प्रत्येक सजीव या निर्जीव तत्व में 'जीव' होता है। मनुष्य जीवन का लक्ष्य जैन धर्म में स्थापित तीन व्यावहारिक नियमों के अनुरूप कर्म करना है। ये तीन नियम हैं – सम्यक् विश्वास, सम्यक् ज्ञान व सम्यक् आचरण। सम्यक् आचरण तभी सटीक होता है जब इसमें अहिंसा, सत्यपरायणता, ब्रह्मचर्य एवं लौकिक संपत्ति का परित्याग सम्मिलित हो।

जैन धर्मावलम्बी हिन्दुओं की तरह ही आत्मा, कर्म के सिद्धांत, जीवन–मृत्यु इत्यादि चक्र में विश्वास करते हैं। जैन धर्म एवं बौद्ध धर्म में भी बहुत–सी समानताएँ हैं। दोनों ही सनातन धर्म के श्रमण रूप हैं। श्रमण परंपरा लौकिक अवलम्बों एवं लौकिक आनंद के त्याग का परामर्श देती है। इसका लक्ष्य जीवन–मृत्यु के चक्रों से मुक्ति प्राप्त करना है।

उपवास एवं तपस्या द्वारा सभी जैन स्व–शुद्धि करते हैं। स्व–नियंत्रण, वैचारिक शक्ति में वृद्धि एवं विचारों की शुद्धि के लिए मानसिक अनुशासन पर बल दिया जाता है। इन प्रक्रियाओं द्वारा उपलब्ध व्यक्तिगत आध्यात्मिक विकास को सामुदायिक लाभ के लिए सुलभ करने की धार्मिक प्रतिबद्धता

होती है। पंचतही अनुशासन जिसमें अहिंसा, सत्य, ईमानदारी, लैंगिक शुद्धि एवं भौतिक प्राप्ति व्यक्तिगत पुण्य के लिए नहीं बल्कि सामुदायिक कल्याण के लिए होता है।

इस धर्म में प्रचलित त्यौहारों का उद्देश्य त्याग पर आधारित तपस्या के द्वारा स्व का आध्यात्मिक विकास है। जैन समुदाय में महावीर जयंती सबसे प्रचलित त्यौहार है। जैन समुदाय भारत के सर्वाधिक समृद्ध समुदायों में है। वे अन्य चीजों के अलावा वाणिज्य–व्यापार की गतिविधियों में ज्यादा सक्रिय रहे हैं।

सिक्ख धर्म

भारतीय मूल में धार्मिक सम्प्रदायों की श्रृंखला में सिक्ख धर्म का उदय गुरु नानक के उपदेशों (1469–1539) के फलस्वरूप धीरे–धीरे हुआ। सिक्ख शब्द का मूल संस्कृत शब्द शिष्य है, जिसका अर्थ गुरु के मार्गों पर चलने वाला होता है। गुरु नानक ने समस्त भारत, श्रीलंका, मक्का और मदीना का भ्रमण किया। उन्होंने भक्ति–पद गान करते हुए स्नेह, पवित्रता व वैश्विक भ्रातृत्व के संवादों को सर्वत्र फैलाया।

सिक्खों के दस गुरु हैं, जिनमें नानक प्रथम और गोविंद सिंह दसवें थे। अर्जुन देव पाँचवे गुरु थे जिन्होंने गुरु ग्रंथ साहिब का संकलन किया। इस ग्रंथ में गुरु अर्जुन के पद के साथ–साथ अनेक भक्त–संतों के पद व सिक्ख गुरुओं के

उपदेश संकलित हैं। गुरु अर्जुन ने सिक्ख धर्म में अपरिमित ऊर्जा का संचार किया। उन्होंने अमृतसर को अपना मुख्य केन्द्र बनाया एवं वहाँ प्रसिद्ध गुरुद्धारे का निर्माण कराया। उन्हीं के समय से सिक्ख धर्म क्रमशः योद्धा संगठन के रूप में प्रकट होने लगा।

दसवें गुरु गोविंद सिंह (1675–1708) ने सिक्खों को योद्धा समुदाय में परिणत किया एवं इसे खालसा (विशुद्ध) नाम दिया। 1699 में अपने पाँच अनुयायियों (पंज प्यारे) का चयन कर उन्होंने सिक्खों को एक विशिष्ट पहचान दी। उन्होंने उन सब को पाँच प्रबोधन दिए जिसके अनुसार वे कभी बाल नहीं काटेंगे, सदैव कंघी रखेंगे, कच्छा पहनेंगे, कड़ा पहनेंगे एवं कृपाण (छुरा) रखेंगे। इस प्रकार इन पाँचों 'क' का सभी सिक्ख स्मरण रखते हैं – केश, कंघा, कच्छा, कड़ा व कृपाण। सिक्ख समुदाय के जीवन में गुरुद्वारा एक प्रमुख केन्द्र होता है। यह गुरु ग्रंथ साहिब की पूजा एवं श्रद्धा का प्रमुख केन्द्र होता है।

सिक्खों को दो समूहों में बाँटा जाता है – (क) सनातनी समूल, तथा (ख) खालसा समूह। सनातनी सिक्ख गुरुनानक और उनके पुत्र श्रीचंद के अनुयायी हैं। ये सिक्खों की पृथक पहचान पर बल नहीं देते। इनकी दृष्टि में सिक्ख सम्प्रदाय सनातन परंपरा का एक रूप है और विस्तृत हिन्दू धर्म का अंग है। खालसा सिक्ख समूह गुरु गोविंद सिंह के उपदेशों पर आधारित माना जाता है। ये अपनी पहचान हिन्दू

धर्म से सर्वथा पृथक सच्चे सिक्खों के रूप में करते हैं। खालसा सिक्ख अपने धर्म को स्वतंत्र घोषित करते हुए तीन आधारों पर इसकी व्याख्या करते हैं – गुरु, ग्रंथ व गुरुद्वारा।

सन् 1925 में गुरुद्वारा अधिनियम प्रभाव में आया, जिसे सिक्खों की सर्वश्रेष्ठ संस्था के रूप में शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी का उदय हुआ। यह सिक्खों की केवल धार्मिक गतिविधियों का ही प्रबंधन नहीं करता है बल्कि परोक्ष रूप से सिक्ख राजनीति को भी प्रभावित करता है।

अधिकांश सिक्ख हिन्दुओं के कुछ त्यौहार जैसे वसंत पंचमी, होली, दीपावली इत्यादि मनाते हैं। सिक्खों के अपने त्यौहारों में बैसाखी एवं गुरुओं के जन्म दिवस (जैसे गुरु नानक जयंती, गुरु गोविंद जयंती) प्रमुख हैं।

तुलनात्मक रूप से सिक्ख समुदाय भी जैन समुदाय की तरह समृद्ध होते हैं। वे शहरों एवं गाँवों में विभिन्न व्यवसायों में संलग्न रहे हैं। यद्यपि सिक्ख धर्म में जाति व्यवस्था को मान्यता प्राप्त नहीं है, फिर भी जाति जैसे समूह सिक्खों में भी पाए जाते हैं।

भारत में मुस्लिम समुदाय

भारत में इस्लाम का आगमन सातवीं सदी ईसा पश्चात् हुआ जब अरब व्यापारी मालाबार तट पर प्रवासी के रूप में आए थे। आठवीं सदी ईसा पश्चात् सिंध पर मुसलमानों की

विजय के साथ ही हिन्दू जातियों व जनजातियों का इस्लाम में धर्मांतरण प्रारंभ हुआ। ग्यारहवीं से अठारहवीं सदी के बीच भारत में तुर्कों, अफगानों, मुगलों एवं ईरानियों का आक्रमण हुआ। कुल मिलाकर भारत में इस्लाम तेरह सदी पुराना है। पश्चिम एशिया से आए मुस्लिम विजेताओं ने भारत की जीवन पद्धति को अपनाकर यहाँ सात शताब्दी तक शासन किया। भारत की मुस्लिम आबादी का अधिकांश इसी देश की संतान हैं। आज भी इनमें इस देश की संस्कृति, रीति–रिवाज एवं प्रथाओं से स्वाभाविक लगाव है। इनकी उपासना पद्धति एवं नातेदारी कानून पर अरबी एवं फारसी इस्लाम का अवश्य प्रभाव है परन्तु इनके संस्कार एवं संस्कृति अब भी भारतीय हैं। वर्तमान समय में भारत मुसलमानों की सर्वाधिक आबादी वाला दूसरा देश है।

इस्लाम धर्म के अनुसार केवल एक ही ईश्वर है एवं उसके प्रति समर्पण से शांति प्राप्त होती है। इस्लाम धर्म उस ईश्वर की इच्छा के प्रति आत्मसमर्पण है, जिसे अरबी में अल्लाह कहते हैं। मुसलमान होने के लिए दो मुसलमान व्यक्तियों की साक्षी में एक ईश्वर यानी अल्लाह की सर्वोच्चता एवं मुहम्मद को अल्लाह के संदेशवाहक के रूप में स्वीकार करना पर्याप्त है। इस्लाम का प्रथम साक्ष्य दैवीय सिद्धांत की एकता व दूसरा साक्ष्य मुहम्मद को अल्लाह के अंतिम एवं सर्वश्रेष्ठ पैगम्बर के रूप में स्वीकार करता है।

इस्लाम धर्म में अनेकों विचारधाराएँ एवं विवेचनाएँ हैं जो पैगम्बर मुहम्मद को प्राप्त ईश्वरीय संदेश पर आधारित हैं। मुसलमानों में मान्यता है कि कुरान ईश्वरीय संदेश का शाब्दिक रहस्योद्घाटन है। फलस्वरूप मुसलमानों को कुरान में वर्णित तथ्यों में पूरा विश्वास है। वे मृत्यु के उपरांत जीवन या पुनर्जन्म के सिद्धांत में विश्वास नहीं करते हैं। वे सभी धार्मिक अनुष्ठानों में सामूहिकता का बोध कराते हैं, जैसे दैनिक नमाज, रोजा और हज इत्यादि में।

भारत में भी मुसलमान, अन्य देशों की तरह सुन्नी एवं शिया नामक दो सम्प्रदायों में विभाजित हैं। पैगम्बर मुहम्मद की मृत्यु के बाद उत्तराधिकार के प्रश्न पर इन दोनों सम्प्रदायों में विभाजन हुआ। सुन्नी खलीफा एवं शिया इमामों ने एक–दूसरे के अधिकार को कभी भी स्वीकार नहीं किया। बाद में शिया मत का एक सम्प्रदाय के रूप में पूर्ण विकास हुआ और इसके तहत भिन्न धर्मशास्त्र, दर्शन एवं अन्य धार्मिक विज्ञान प्रकट हुए। सुन्नी सम्प्रदाय को मानने वाले मुसलमानों की जनसंख्या पूरी दुनिया की तरह भारत में भी ज्यादा है।

अहमदिया, दाउदी बोहरा, इस्लामी खोजा आदि कुछ अन्य सम्प्रदाय भी हैं जो शिया एवं सुन्नी से स्वतंत्र अस्तित्व बनाये हुए हैं। भारत में रहने वाले मुसलमानों में जाति जैसे समूह पाए जाते हैं, जैसे सैयद, शेख, खान, मलिक एवं अंसारी इत्यादि। ये समूह वैवाहिक संबंधों के समय काफी महत्वपूर्ण हो जाते हैं।

इस्लाम के अंतर्गत उम्मा (ह) एक प्रमुख अवधारण है जिसके अनुसार इस ब्रह्माण्ड में रहने वाले सभी मुसलमान आपस में भाई–भाई हैं। उम्मा(ह) के द्वारा अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर इस्लामी भाईचारा विकसित करने की कोशिश भी अन्य समूह, राज्य या राष्ट्र की सदस्यता से महत्वपूर्ण होती है। वैसे इसके बारे में अलग–अलग देशों के इस्लामी विद्वानों के मत में थोड़ा अंतर भी देखने को मिलता है। इस्लामी दृष्टिकोण के अनुसार धर्म जीवन का कोई पृथक विशिष्ट हिस्सा नहीं है बल्कि जीवन का एक ढंग है जिसमें कला, विश्वास, वाणिज्य, सामाजिक आदान–प्रदान, राजनीति जैसी सभी प्रक्रियाएँ सम्मिलित हैं। इस्लाम में पवित्र और अपवित्र या आध्यात्मिक और पंथनिरपेक्ष के बीच विभेद नहीं किया जाता है। धर्म के प्रभाव क्षेत्र से बाहर कुछ भी नहीं माना जाता है। इस दृष्टि से इस्लाम की सनातन धर्म में समानता और पश्चिमी आधुनिकता से दूरी स्पष्ट नजर आती है। महात्मा गाँधी, ए.के. सरण एवं जे.पी.एस. उबेराय जैसे मनीषियों ने इस्लाम के इस पक्ष पर विस्तार से विचार किया है।

इस्लाम के संस्थागत तत्वों में कुरान, पैगम्बर, शरीयत, हदीस और तरीका माना जाता है। इस्लाम की केन्द्रीय नींव पवित्र ग्रंथ कुरान है। यह अल्लाह द्वारा कहे गए शब्दों का संग्रह है। अल्लाह ने अपने शब्दों को अपने दूत जिब्राइल के द्वारा पैगम्बर मुहम्मद को रहस्योद्घाटित किया था कुरान के

शब्द केवल अर्थ की दृष्टि से ही नहीं बल्कि अपने शाब्दिक स्वरूप में भी पवित्र माने जाते हैं।

पैगम्बर मुहम्मद इस्लाम की दूसरी नींव हैं। वे न तो ईश्वर के अवतार हैं, न ही ईसा मसीह की तरह ईश–पुरुष हैं। वे ईश्वर की उत्कृष्ट रचना हैं जो ईश्वर के संवादों की व्याख्या एवं प्रसार के लिए चुने गए थे। इस्लाम परम शक्ति अल्लाह पर निर्भर करता है न कि पैगम्बर पर इस्लामी श्रद्धा के केन्द्र में पैगम्बर के प्रति प्रेम स्पष्ट होता है। पैगम्बर से प्रेम इस्लाम के सभी आयामों में सम्मिलित है। यह शरीयत और तरीका दोनों को प्रभावित करता है जिसकी उन्होंने ही स्थापना की और निर्देशन किया।

हदीस इस्लाम का तीसरा महत्वपूर्ण आधार है। यह पैगम्बर के परामर्शों एवं निर्देशों का उनके सहयोगियों व धर्मावलम्बियों द्वारा किया गया संकलन है। इसमें विधि–विधान, नैतिक व आध्यात्मिक शिक्षा का विवरण है। कुरान में निहित अल्लाह के शब्दों एवं संवादों को समझने के लिए हदीस एक अनिवार्य निर्देशक ग्रंथ हैं।

शरीयत (इस्लाम के दैवीय विधि–विधान) को इस्लाम की चौथी आधारशिला माना जाता है। मुस्लिम लोग इसे ईश्वर की आकांक्षा का ठोस स्वरूप मानते हैं। मुसलमानों की जिन्दगी में जन्म से लेकर मृत्यु तक की सभी प्रक्रियाओं में शरीयत का अनुसरण किया जाता है। शरीयत पर इस्लाम धर्म के सभी पुरुषों व स्त्रियों का चलना आवश्यक है। शरीयत के

मूल तत्व कुरान में पाए जाते हैं और इसके रचयिता अल्लाह को माना जाता है।

इस्लाम की पाँचवीं नींव के रूप में तरीका या आध्यात्मिक पंथ है। यह इस्लाम का आंतरिक आयाम है। तरीका को सुन्नी सम्प्रदाय की सूफी धारा और शियाओं द्वारा मान्यता प्राप्त है। हज को इस्लाम का सर्वश्रेष्ठ तीर्थटन माना जाता है जो मक्का में स्थित पवित्र काबा के दर्शन से संपन्न होता है। मुस्लिम मान्यता के अनुसार अगर कोई व्यक्ति सद्भाव से हज करता है तो उसे पापों से माफी मिल जाती है।

इस्लामी व्यवहार एवं संस्थाएँ

इस्लाम की प्रमुख धार्मिक प्रक्रियाओं में तौहीद, नमाज, रोजा, जकात और हज आते हैं। सभी मुसलमानों से पाँच वक्त का नमाज का पढ़ना अपेक्षित होता है। नमाज मक्का (सउदी अरब) में स्थित काबा की दिशा की ओर खड़े होकर अदा की जाती है।

त्यौहार और पंचांग (कैलेंडर)

मुस्लिम त्यौहार पैगम्बर मुहम्मद के जीवन व इस्लाम के इतिहास से संबंधित है। सभी धार्मिक मामलों, निकाह (विवाह) अथवा कोई अन्य उत्सव मनाने के लिए मुस्लिम लोग हिजरी

पंचांग का अनुसरण करते हैं। मुस्लिम नव वर्ष मुहर्रम से प्रारंभ होता है।

मुसलमानों के लिए रमजान सबसे पवित्र नवाँ महीना होता है। इसके दौरान अधिकांश इस्लाम धर्मावलंबी आत्मशुद्धि के लिए सुबह से शाम तक उपवास रखते हैं। रमजान के महीने के उनतीसवें दिन शाम को चन्द्र दर्शन के साथ ईद–उल–फितर त्यौहार मनाया जाता है। सभी पुरुष सामुदायिक प्रार्थना के लिए ईदगाह जाते हैं, तत्पश्चात् आपस में गले मिलते हैं। मुसलमानों के अन्य प्रमुख त्यौहारों में ईद–उल–जुहा (बकरीद), मुहर्रम, शब–ए–बरात आदि हैं।

भारत में ईसाई समुदाय

ईसाइयत प्रमुख आधारशिलाओं में पैगम्बर के रूप में ईसा मसीह, उद्घाटित पुस्तक नव विधान (न्यू टेस्टामेंट) और धार्मिक संगठन के रूप में चर्च है। ईसा एवं उनके अनुयायी जन्म से यहूदी थे। लगभग पाँचवीं सदी ईसा पश्चात् सभी चर्चों द्वारा नये विधान को स्वीकृति मिली। उसके पूर्व केवल पुराना टेस्टामेंट या हिब्रू बाइबल या तोराह (तौरा) ही एक मात्र धर्म ग्रंथ था। ईसाइयत एवं इस्लाम का मूल स्वरूप यहूदी परंपरा में निहित है और ये दोनों धर्म पुराने टेस्टामेंट में वर्णित हजरत मूसा (मोसेस) के रहस्योद्घाटनों को मान्यता देते हैं।

ईसाई धार्मिक जीवन के तीन निर्णायक पक्ष हैं:

(1) ईश्वर के संदेशवाहक के रूप में ईसा मसीह में श्रद्धा व विश्वास,

(2) सेवा, तथा

(3) पड़ोसी के लिए स्नेह व सहिष्णुता।

भारत में ईसाइयत का आगमन विभिन्न चरणों में हुआ। सीरीयन ईसाई परंपरा के अनुसार, ईसा के बारह शिष्यों में से एक संत थॉमस बावनवी सदी ईसा पश्चात् कोचीन के समीप आए थे। लगभग दूसरी सदी के अंत में भारत में एक ईसाई चर्च स्थापित हुआ था। थॉमस एवं सीरीयन ईसाइयों ने अपने धार्मिक समुदाय की प्राकृतिक सीमाओं को बढ़ाने का प्रयास नहीं किया।

भारत के ईसाई इतिहास में दूसरा चरण रोमन कैथोलिक ईसाइयों के आगमन से प्रारंभ होता है जो 1250 के दशक में फ्रांसीसकन व डॉमिनीकन श्रृंखला के मिशनरियों के आगमन के साथ शुरू हुआ। सन् 1500 ई. के बाद भारत के पश्चिमी भाग पर पुर्तगाली अधिकार के साथ मिशनरियों का आगमन तेज हो गया। तीसरे चरण में प्रोटेस्टेंट मिशन के अनुयायियों के भारत आगमन की शुरूआत जुलाई 1706 ई. में जर्मनी से प्रोटेस्टेंट मिशनरियों के आगमन के साथ शुरू हुई।

ईसाइयत के प्रसार के चौथे चरण की शुरूआत भारत में अंग्रेजी शासन के दौरान हुई। सन् 1793 में अंग्रेजी मूल के

बैपटिस्ट मिशनरी विलियम कैरी का आगमन हुआ जिन्होंने सघन प्रोटेस्टेंट गतिविधियों की शुरूआत की। सन् 1957 और 1813 के बीच ईस्ट इंडिया कंपनी ईसाई मिशनरियों के धर्मांतरण अभियान के विरुद्ध रही, लेकिन बाद में कंपनी की नीतियाँ उनके अनुकूल हो गईं। अंग्रेजी शासन काल में, 1833 के बाद, ईसाई गतिविधियाँ कलकत्ता, मद्रास व बंबई विश्वविद्यालयों में एवं ग्रामीण जनजातीय क्षेत्रों, विशेषतः गरीबों के बीच क्रियाशील थीं।

सन् 1920 के दशक को भारत में ईसाइयत के विस्तार की दृष्टि से पाँचवां चरण माना गया है, जिसमें अमेरिका की संस्था वाई.एम.सी.ए. (यंग मेन्स क्रिश्चियन एसोशिएशन) और कैथरीन मायो जैसे विद्वानों की भूमिका महत्वपूर्ण मानी जाती है।

छठा चरण 1947 के बाद आता है। 1947 में दक्षिण भारतीय चर्च की स्थापना हुई थी, जिसमें चौदह बिशप–क्षेत्र (डायोस) एवं चार आयामी क्षेत्रों में लगभग दस लाख सदस्य थे। ये रोमन कैथोलिक या लूथर के अनुयायी नहीं थे। सन् 1970 में सांगठनिक स्तर पर ईसाइयत के भारतीयकरण के लिए उत्तर भारत में चर्च स्थापित हुए। इसे सातवाँ चरण माना जाता है। इसकी एक पृष्ठभूमि है।

सन् 1960 के मध्य में संपन्न हुई द्वितीय वेटिकन सभा के बाद भारत में रोमन कैथोलिक चर्च को पहले से लगाए गए प्रतिबंधों एवं सीमाओं से मुक्त किया गया। भक्ति परंपरा एवं

मंदिर–व्यवस्था के बहुतेरे अवयवों को अपनाकर चर्च की पूजन–पद्धति का हिन्दूकरण किया गया।

भारतीय जनगणना में ईसाइयों को एक समूह के रूप में माना गया है, लेकिन इसमें अनेक वैचारिक विभिन्नता वाले पंथ हैं। भारत के ईसाइयों में कैथोलिक सबसे बड़ा समाज है जो कुल ईसाई जनसंख्या का 50 प्रतिशत है। शेष 40 प्रतिशत प्रोटेस्टेंट, 7 प्रतिशत रूढ़िवादी एवं 3 प्रतिशत स्थानीय पंथ हैं।

कैथोलिक ईसाइयों का चर्च सुपरिभाषित संस्तरण के आधार पर संगठित है, जिसमें सबसे ऊपर पोप का स्थान है। पोप सभी धार्मिक मामलों में शीर्ष भूमिका निभाते हैं। प्रोटेस्टेंट समूह में अनेक विशिष्ट धारणाएँ एवं चर्च आते हैं। सीरियन ईसाई जैसे रूढ़िवादी समूह अपना संबंध पूर्वी यूरोप या पश्चिमी एशियाई या इन पर निर्भर चर्चों से जोड़ते हैं।

आज भी कुछ मामलों में केरल के सीरीयन ईसाई एवं स्थानीय हिन्दुओं के बीच भिन्नता अस्पष्ट है, जैसे मकान बनाने में किए गए अनुष्ठान या ज्योतिष विद्या में विश्वास। सीरियन ईसाइयों के वैवाहिक एवं जन्म से संबंधित अनुष्ठान भी हिन्दुओं से मिलते–जुलते हैं, विशेषकर आनुष्ठानिक अवयवों के उपयोग, जैसे चंदन लकड़ी का पाउडर, दूध, फूल, सुपारी एवं चावल आदि का उपयोग।

तमिलनाडु एवं गोआ में ईसाइयत स्पष्ट रूप से स्थानीय (देसी) सामाजिक आनुष्ठानिक व्यवस्था से प्रभावित है।

हिन्दू मंदिरों में प्रयुक्त पद्धतियों से मिलती जुलती गतिविधियाँ ग्रामीण चर्चों के अंतर्गत अधिकार एवं प्रतिष्ठा की व्यवस्था एवं त्यौहार मनाने के मामलों में देखी जा सकती है। परिणामस्वरूप ग्रामीण चर्चों ने स्थानीय संस्तरण पर आधारित जाति व्यवस्था को बनाए रखने में विशेष योगदान दिया है। उनके अनुष्ठान एवं उत्सव वस्तुतः सामाजिक एवं धार्मिक पदों के प्रदर्शन का माध्यम भी होते हैं।

केरल के ईसाइयों में सीरियन एवं धर्मांतरित अछूतों के बीच भोजन व विवाह के संबंध नहीं रहे हैं। अनेक उदाहरणों में देखा गया है कि धर्मांतरित अछूत अपने खास चर्चों में जाते हैं। यदि वह सीरियन ईसाइयों के साथ प्रार्थना में शामिल होते हैं तो उनके बैठने के लिए अलग स्थान होता है। सामान्यतः उन्हें पुजारियों का संसर्ग कम ही प्राप्त होता है एवं चर्च के सत्ता संस्तरण अनुक्रम में निम्न स्थान पर माना जाता है। तमिलनाडु के ग्रामीण क्षेत्रों में पवित्रता एवं अपवित्रता के विचार प्रभावशाली हैं। फलस्वरूप धर्मांतरित अछूतों को पृथक निवास स्थानों में रहना पड़ता है।

तीर्थटन

प्रोटेस्टेंट ईसाई सामान्यतः तीर्थाटन के लिए नहीं जाते। ऐंगलिकन विचारधारा को मानने वाले तीर्थयात्री भी अपवाद होते हैं। इसके विपरीत बहुसंख्यक कैथोलिक एवं रूढ़िवादी चर्च के अनुयायी प्रायः त्यौहारों के अवसर पर तीर्थाटन करते

हैं। अधिकांश तीर्थस्थल उस स्थान पर हैं जहाँ ईसाई जनसंख्या का घनत्व ज्यादा है, जैसे गोवा, केरल, तमिलनाडु, चेन्नई, मुंबई एवं कोलकाता इत्यादि में। इन स्थानों के महत्वपूर्ण चर्चों को तीर्थस्थल का दर्जा हासिल है।

भारत में रोमन कैथोलिक लोग पोप (रोम के बिशप) को सर्वोच्च धार्मिक नेता मानते हैं। भारतीय कैथोलिकों को धार्मिक निर्देश देने वाले दो केन्द्र हैं – एक मुंबई में और दूसरा एरनाकुलम में। भारत में करीब 120 बिशप हैं। ईसाई पादरियों के भारत में पैंतीस धार्मिक संघ हैं।

धर्मानुष्ठान

रोमन कैथोलिक चर्च में किसी पादरी या बिशप द्वारा सात पवित्र–पर्व कराए जाते हैं। बपतिस्मा (ईसाई बनने के लिए अनुष्ठान तब होता है जब कोई बच्चा सात वर्ष का होता है, लेकिन प्रोटेस्टेंटों में यह तब होता है जब बच्चा पन्द्रह साल का हो। बच्चे को पुजारी (पादरी) द्वारा कई महीनों तक ईसाइयत के प्रमुख सिद्धांतों एवं मान्यताओं का ज्ञान दिया जाता है। इसके बाद ही पुजारी द्वारा बच्चे को एक ईसाई के रूप में मान्यता मिलती है। विवाह के अनुष्ठान चर्च में पुजारियों द्वारा विधिवत संपन्न किए जाते हैं।

ईसाई समूहों में जातीय समूह जैसे लक्षण पाए जाते हैं। संयुक्त परिवार प्रमुख संस्था होती है। ऐंग्लोइंडियन को

छोड़कर अन्य ईसाइयों की जीवन पद्धति में स्थानीय या क्षेत्रीय संस्कृति से बहुत भिन्नता नहीं होती है। सामान्य ईसाई प्रायः स्थानीय आंचलिक भाषाएँ ही बोलते हैं।

अन्य धार्मिक समूह

पारसी (जोरास्ट्रियन)

पारसी शब्द का संबंध पारसी (फारसी) भाषा व संस्कृति से है। पारसी शब्द सामान्यतः उन लोगों के लिए प्रयुक्त होता है जो दसवीं सदी ईसा पश्चात् ईरान से भारत आए थे। ये लोग वस्तुतः ईरान में व्याप्त तत्कालीन इस्लामी प्रताड़ना से बच कर भारत आए थे। पारसी समुदाय जरथ्रुस्ट को पैगम्बर मानता है। जरथ्रुस्ट को जोरोस्टर भी कहा जाता है, अतः उनसे संबंधित धर्म को जोरास्ट्रियन भी कहा जाता है।

विश्व के प्राचीनतम पैगम्बरों से संबद्ध धर्मों में जोरास्ट्रियन धर्म भी एक है। लगभग 6000 ईसा पूर्व ईरान के उत्तरपूर्व के एशियाई मैदानों के निकट जोरास्टर (जरथ्रुस्ट) रहा करते थे। उन्होंने भारतीय–ईरानी परंपरा को विरासत में प्राप्त किया था। हिन्दू धर्म व पारसी धर्म में बहुत अधिक समानता है। इन दोनों धर्मों के प्राचीन ग्रंथों (वेद व अवेस्ता) में अग्नि का समान महत्व प्रकट होता है। इसके अतिरिक्त

पवित्रता के नियम और पुजारियों के प्रति श्रद्धाजनक दृष्टिकोण भी इस समानता का संकेत है।

पैगम्बर जोरास्टर के उपदेशों को गैथिक अवेस्तन भाषा में संग्रहित किया गया है। इस भाषा का संबंध वैदिक संस्कृत से है। सातवीं सदी ईसा पश्चात् के मुस्लिम अरब आक्रमण से पूर्व तक पारसी धर्म के बाद पारसी धर्मावलम्बियों को अतिशय कष्ट का सामना करना पड़ा। तत्पश्चात् वे लोग भारत व अन्य देशों की ओर पलायन करने लगे।

भारतीय पारसी लोग अधिकांशतः (लगभग 96 प्रतिशत) शहरों में रहते हैं। ये लोग मुख्यतः मुंबई व गुजरात के विभिन्न भागों में बसे हुए हैं। पारसी समुदाय भारत के समृद्ध समुदायों में से एक है। अन्य भारतीय अल्पसंख्यकों की तुलना में भारत का पारसी समुदाय भारत की मुख्यधारा में पूर्णतः सम्मिलित है। दादाभाई नौरोजी, फीरोजशाह मेहता एवं जमशेदजी टाटा के परिवारों ने आधुनिक भारत के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। आधुनिक व्यापार एवं औद्योगिक उपक्रमों में वे अग्रणी रहे हैं। मुंबई के अनेक संस्थानों के गठन में उनके योगदान की अनदेखी असंभव है। भारत में रंगमंच को पारसी थियेटर ने नया आयाम दिया है। पारसी लोगों ने मुंबई फिल्म उद्योग के विकास में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है।

पारसी लोग धार्मिक अध्ययन में बहुत कम समय व्यतीत करते हैं। इनका धर्म मुख्यतः इनकी सांस्कृतिक पहचान एवं रोजमर्रे के कार्यकलाप में समाहित है। ये अपनी पहचान की

महत्ता जीवन चक्र अनुष्ठानों के माध्यम से एवं नैतिक व्यवहारों द्वारा बनाए रखने की चेष्टा करते हैं। पवित्रता एवं अपवित्रता के विचार पारसी लोगों के बीच काफी सशक्त होते हैं। उनकी दैनिक प्रार्थना को नवजोत कहा जाता है। उनके धार्मिक कर्तव्यों में दैनिक प्रार्थना करना और मौसमों के साथ आने वाले त्यौहार (गहमबरस) मनाना होता है।

पारसी धर्म वस्तुतः प्रकृति पूजक रहा है। प्राकृतिक तत्व, जैसे अग्नि, वायु, जल व सूर्य को पवित्र माना जाता है। वर्तमान में ये लोग मुख्यतः अग्नि पूजक हैं। पारसियों की तीर्थस्थल 'उड़वाड़ा' में स्थापित एक अग्नि–वेदी है। पारसी समुदाय में दो प्रकार के अग्नि–मंदिर हैं जिनके बीच अंतर वहाँ स्थित अग्नि की प्रतिष्ठा पर निर्भर करता है। एक प्रकार की अग्नि को 'राजसी बहरम' या पराक्रमी अग्नि कहते हैं, जबकि दूसरे प्रकार को 'दर–ए–मिहर' या साधारण अग्नि कहते हैं।

पारसी समुदाय अपनी परोपकारी प्रवृत्तियों के लिए जाना जाता है। परोपकार के विभिन्न आयाम उनकी सामाजिक सुरक्षा हेतु स्थापित पंचायत द्वारा सुनिश्चित होते हैं। पंचायत के सदस्य स्थानीय अंजुमन में आर्थिक दान कर सहयोग करते हैं। इससे पारसियों के अलावा गैर–पारसी समुदाय भी लाभान्वित होते हैं। मानव कल्याण को नैतिक एवं नागरिक उत्तरदायित्व मानने वाला यह समुदाय किसी क्षेत्र विशेष एवं अधिकारों की घोषणा नहीं करता है।

यहूदी धर्म

यहूदी धर्म भारत में सबसे छोटा धार्मिक समुदाय है। सन् 1991 की जनगणना के अनुसार भारत में केवल 5000 यहूदी थे। सन् 2001 की जनगणना में इनकी जनसंख्या बढ़ने के बजाय घटी है। इनका वर्गीकरण जनगणना में जोरास्ट्रियन व जीववादी जनजातियों व अन्य धार्मिक समूहों के साथ रखा गया है। फलस्वरूप इनकी सही जनसंख्या के बारे में भ्रम की स्थिति बनी रहती है।

भारत में यहूदी समुदाय तीन प्रकार के हैं – 'बनी–इजराइल', 'केरल यहूदी' और 'बगदादी यहूदी'। कुछ यहूदी भारत में ईसाई युग के पहले आ चुके थे। इनमें सबसे प्राचीन 'बनी–इजराइल' के लोग हैं जो महाराष्ट्र के तटीय क्षेत्रों में आकर बसे थे। दूसरा समूह केरल के कोचीन के निकट बसा हुआ है। तीसरा समूह मध्य–पूर्व (बगदाद) से आया और मुंबई, कोलकाता, पुणे, सूरत और चेन्नई में आकर बसा। उनमें से अधिकांश 1948 में प्रवसन कर भारत से इजराइल चले गए।

यहूदी धर्म को वास्तविक हिब्रू या सामी धर्म माना जाता है। यह मूसा द्वारा रहस्योद्घाटित धार्मिक विचारों पर आधारित है। उनका धर्मग्रंथ तोरा (हिब्रू बाइबल) कहलाता है। उनके मंदिर को सिनेगॉग कहा जाता है। अब्राहम के नेतृत्व में यहूदी इजराइल में बसे जिसे कैनन व बाद में फिलस्तीन कहा गया।

63 सदी ईसा पूर्व से सन् 1948 तक यहूदी विभिन्न स्थानों एवं विभिन्न समूहों में बिखरे रहे हैं। सन् 1948 में यहूदी समुदाय ने अपने देश इजराइल की पुनर्स्थापना की। यहूदी समुदाय भारत की स्थानीय सामाजिक सांस्कृतिक संरचना में स्वीकृत हो गया। उन्होंने यहाँ के रिवाजों, वेशभूषा, दैनिक व्यवहार आदि को स्वीकार कर लिया। यह एक सजातीय समूह है जिसमें धार्मिक मान्यताओं का अनुशासनपूर्वक पालन किया जाता है। इसमें गैर–यहूदी लोगों के लिए कोई प्रवेश नहीं। उनमें धर्मांतरण का प्रचलन नहीं है।

जीववादी

भारत की अधिकांश जनजातियाँ जो हिन्दी, इस्लाम या ईसाई धर्म में परिवर्तित नहीं हुए हैं, समाजशास्त्रियों द्वारा जीववादी कहे जाते हैं। जीववादी प्रकृति पूजक होते हैं। जीववादी जनजातियों एवं लोकसंस्कृति में रचे–बसे हिन्दू समुदायों में काफी समानताएँ देखी गई हैं। इसीलिए भारतीय जनगणना के दौरान जीववादियों के विषय में स्पष्ट निर्णय लेने में कठिनाई होती है। 1991 की जनगणना में जीववादी जनजातियों को अन्य धार्मिक समूहों की श्रेणाी में रखा गया जबकि कुछ अन्य जनजातियों को हिन्दू कहा गया। सन् 2001 की जनगणना में भी यही भ्रम बना रहा। अतः हिन्दू जनजाति एवं जीववादी जनजाति के बीच सदैव अस्पष्टता देखी गई है। दोनों ही समूहों में विभिन्न प्रकार के प्रकृति पूजक पाए जाते

हैं। लेकिन सभी जीववादियों के बीच एक मान्य तथ्य यह है कि उनका कोई लिखित ग्रंथ नहीं है, ये लोग इस दुनिया के सभी अनुप्रमाणित वस्तुओं में आत्मा का सत्त्व देखते हैं और उसे पूज्य मानते हैं।

भारतीय संस्कृति में धर्म साधना

भारतीय परंपरा में आध्यात्मिक अनुभूतियों के चर्चा की पूर्णतः मनाही है। अनुभूतियाँ जीने के लिए नहीं होती, करने के लिए होती हैं। आध्यात्मिक अनुभूतियों की केवल कलात्मक अभिव्यक्ति होती है या हो सकती है। इन कलात्मक अभिव्यक्तियों की चर्चा हो सकती है, होती है और होनी चाहिए। कला और अनुष्ठान एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। कला अनुष्ठान है और अनुष्ठान कला है। इस तरह हमारे यहाँ सत्य के बारे में केवल परोक्ष चर्चा होती है, सांकेतिक चर्चा होती है जबकि सत्य अपरोक्ष अनुभूति की चीज होती है और मानी जाती है। फलतः हमारे यहाँ संकेत चिन्ह का चुनाव स्वच्छन्द नहीं होता बल्कि संकेत चिन्ह एवं सांकेतिक वस्तु के बीच अविच्छिन संबंध होता है।

इसके विपरीत आधुनिक पश्चिमी परंपरा मानती है कि हम सत्य, जगत् या न्यूमेना को नहीं जान सकते हैं। हम केवल आभाषिक सत्य, संसार या फेनोमना को जान सकते हैं; और फेनोमेना को जानने का दो तरीका हैः सहज ज्ञान एवं इन्द्रिय अनुभव। दोनों ही हमें फेनोमेना तक ले जा सकते हैं

लेकिन दोनों ही न्यूमेना तक नहीं ले जा सकते। इसका एक कारण यह है कि वे गुरु–शिष्य परंपरा में विश्वास नहीं करते। वे जन शिक्षा में विश्वास करते हैं। कुछ विद्वानों का कहना है कि सनातन धर्म साधना में केवल तीन सम्प्रदाय ही असहज हैं – सामाजिक स्वीकृति के बावजूद निर्गुण भक्त, सूफी साधक और पश्चिमी अध्यात्मवादी भारतीय परिवेश में असहज महसूस करते रहे हैं। ये तीनों संसार रहित आत्मा की साधना करते हैं। सनातन संस्कृति में अच्छी आत्मायें शरीर छोड़ कर मुक्त हो जाती हैं। ईश्वर रूपी सागर में विलिन हो जाती हैं। अतः दैवीय आत्मा संसार में शरीर में ही मिल सकती है। दूसरी ओर इस्लाम में और ईसाइयत में (पूरी सेमेटिक परंपरा में) शरीर छोड़ने के बाद भी आत्मायें अंतिम फैसला का इंतजार करती हैं। इसीलिए उनके शरीर को कब्र में गाड़ा जाता है, चिता पर जलाकर राख नहीं किया जाता है। रूढ़िवादी इस्लाम अथवा सुन्नी मुसलमान तो आत्मा के पीछे कम और नैतिक आदर्श एवं सामूहिक भावना पर ज्यादा ध्यान देता है। लेकिन सूफियों का ध्यान शरीर रहित आत्माओं पर ज्यादा रहता है। यही हाल ईसाई परंपरा में अध्यात्मवादियों का है।

भारतीय परंपरा में ईश्वर (परम आत्मा) को भी शरीर (सगुण रूप) में ही पूजा जाता है। निर्गुण ईश्वर की पूजा नहीं की जाती। निर्गुण भक्ति मूलतः ज्ञानमार्ग (ज्ञान साधना) का दूसरा नाम है। इसका उद्गम बौद्ध और जैन परंपरा है। यह निवृत्ति मार्ग कहलाता है। यह मुक्ति का मार्ग है। प्रवृत्ति मार्ग

के लिए सगुण भक्ति और मूर्ति पूजा है। पूजा केवल मूर्ति की होती है। भगवान (निर्गुण) की साधना होती है। मूर्तिपूजा कला है, तकनीक है स्मरण या स्मृति का। साधना ईश्वरत्व प्राप्त करने का, भगवान बनने का एक विज्ञान या प्रयोग है। इसके विपरीत सेमेटिक परंपरा शरीर रहित आत्मा की प्रवृत्तिमार्गी पूजा है। फलतः सेमेटिक परंपरा में सनातन कला और विज्ञान का न तो कोई अर्थ है और न स्थान; बल्कि दोनों के प्रति एक प्रकार की असहिष्णुता है। दोनों के प्रति एक प्रकार की असहजता है। इन दो (सूफियों और अध्यात्मवादियों) को छोड़कर भारतमाता और सनातन धर्म ने सभी परंपराओं और प्रवृत्तियों को पचा लिया है, आत्मसात कर लिया है। मुसलमान, ईसाई, मार्क्सवादी, भोगवादी सबको पचा लिया है।

सनातनी दुनिया आत्मविश्वास पर नहीं 'भोले विश्वास' पर चलती है कि संसार माया होने के बावजूद ईश्वर की रचना है। अतः हमारा काम 'अपना काम' करना है। दुनिया भगवान चलाते हैं। इसमें आत्मविश्वास की आवश्यकता नहीं होती, अंतरात्मा की आवाज सुनने की आवश्यकता होती है।

भारतीय धर्म साधना में एक लोकप्रिय मान्यता यह है कि ज्ञान, भाषा और सत्ता एक ही सत्य के तीन रूप हैं। ज्ञान साधना से नहीं मिलती, ईश्वरीय कृपा से मिलती है। लेकिन कृपा पात्रता से मिलती है। पात्रता साधना से मिलती है। साधना का आरंभ आत्म साक्षात्कार से होता है। आत्म साक्षात्कार के लिए अंतरात्मा की आवाज सुनना आवश्यक है।

अंतरात्मा की आवाज सुनने के लिए आत्मा की भाषा समझना आवश्यक है। भाषा सीखने के लिए साधना करनी पड़ती है। ऋषि एक नई भाषा गढ़ता है यानि पुरानी भाषा को परिवर्तित करता है। भाषा के अनुशासन से सम्प्रदाय का जन्म होता है। बिना भाषा सीखे सत्ता नहीं मिलती, सत्य नहीं मिलता, ज्ञान नहीं मिलता।

भारतीय साधना परंपरा में एक दूसरी मान्यता यह है कि प्रकृति का नियम 'पुरुष' पर लागू नहीं होता। प्रकृति और पुरुष में स्थूल और सूक्ष्म का भेद है। जल, प्रकृति का उदाहरण है और वायु (वाष्प) पुरुष का। दूध प्रकृति का उदाहरण है और दही (दधि) पुरुष का। सांख्य दर्शन में प्रकृति को वरीयता दिया गया है। पुरुष (चेतना, संस्कृति, संस्कार) की भूमिका सीमित है।

समकालीन परिदृश्य

भारत की पारंपरिक सभ्यता जब तक जीवंत बनी रही तब तक भारत के विभिन्न धार्मिक समुदाय आपसी समझ का परिचय देते रहे। अठारहवी शताब्दी तक भारत में साम्प्रदायिक दंगे नहीं होते थे। अंग्रेजी राज के दौरान पारंपरिक सभ्यता को कायम रखने वाली स्थितियों, कारकों, संस्थाओं और पद्धतियों में रूपांतरण शुरू हुआ। धीरे–धीरे सम्प्रदायों के आंतरिक एवं बाह्य स्वरूप तथा इनके आपसी संबंधों में भी अंतर आया। करीब–करीब सभी सम्प्रदाय व्यक्तिवाद एवं उपभोक्तावाद से

परेशान हैं। सभी सम्प्रदायों में राजनीतिक अवसरवादिता को लेकर आक्रोश है। अब छोटी–छोटी बातों पर दंगा भड़कने लगा है। अधिकतर दंगाई अपने–अपने सम्प्रदाय के मानकों पर आदर्श धर्मानुयायी नहीं कहे जा सकते। जे.पी.एस. उबेराय ने तो अपने अध्ययनों के आधार पर दावा भी किया है कि अधिकतर दंगाई, आतंकवादी एवं धर्मांध लोग 'शैतानी आधुनिकता' से प्रभावित पेशों में प्रशिक्षित लोग होते हैं, पारंपरिक धर्मानुयायी नहीं। स्वामी दयानंद सरस्वती जैसे साम्प्रदायिक सद्भाव के समर्थकों ने भोले–भोले किसानों, मजदूरों एवं जनजातियों के बीच धर्मांतरण के अधार्मिक हथकंडों में निहित अपराध की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया है। कई ईसाई विद्वानों ने भी सामूहिक धर्मांतरण को ईसा मसीह की पवित्र शिक्षा के खिलाफ बतलाया है। मौलाना वहिउद्दीन खान जैसे लोगों ने भी साम्प्रदायिक सद्भाव को मजबूत करने के लिए आध्यात्मिक दृष्टि के विकास पर बल दिया है। स्वामी विवेकानंद, श्रीअरविंदो, योगानंद परमहंस, महर्षि महेश योगी, स्वामी राम, ओशो रजनीश, दलाई लामा, स्वामी रामदेव जैसे व्यक्तियों के प्रभाव से धर्म, अध्यात्म, योग एवं साधना का विज्ञान एवं तकनीक के साथ रचनात्मक संबंध स्थापित हुआ है। अंतरात्मा, आत्म परिष्कार एवं योग की लोकप्रियता बढ़ी है।

अध्याय 3

भारतीय संस्कृति में विवाह

विवाह मानव समाज की सबसे मौलिक एवं प्राचीन सामाजिक संस्थाओं में से एक है। प्राचीन काल से यह समाज में व्यवस्था एवं अनुशासन बनाये रखने का प्रमुख माध्यम रहा है। इसके बिना समाज मुक्त यौन संबंधों की अराजकता में भटक गया होता। इसका स्वरूप, प्रकृति तथा प्रक्रियाएँ अलग–अलग समाजों में एक जैसी नहीं होती। इसके बावजूद इस संस्था के कई सार्वभौमिक सामान्य तत्व एवं प्रकार्य हैं। एडवर्ड वैस्टरमार्क के अनुसार ''विवाह एक या अधिक पुरूष का एक या अधिक स्त्री के साथ संबंध है जिसे प्रथा या कानून की मान्यता प्राप्त होती है और जिसमें शामिल लोगों तथा इस संबंध से पैदा हुए बच्चों को कुछ अधिकार तथा कर्तव्य प्राप्त होते हैं।'' सार रूप में, विवाह का तात्पर्य नियमों तथा रीतियों के समुच्चय से है जो यह निर्धारित करता है कि किस व्यक्ति का विवाह किससे होगा, विवाह किस विधि से होगा तथा किस परिस्थिति में विवाह होगा। विवाह के पश्चात् विवाह संबंध में बंधने वाले व्यक्तियों के अधिकार और कर्तव्य क्या होंगे, तथा आवश्यकता पड़ने पर संबंध विच्छेद कैसे होगा।

विवाह के द्वारा पति–पत्नी के शारीरिक, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक लक्ष्यों और जरूरतों की पूर्ति होती

है। विवाह सामाजिक रूप से स्वीकृत तथा मूल्यों की दृष्टि से वांछनीय संबंध है जिसमें एक पक्ष स्त्री एवं दूसरा पक्ष पुरूष होता है। यह वैवाहिक संबंध में बंधे दोनों पक्षों के यौन, आर्थिक एवं अन्य अधिकारों तथा कर्तव्यों को परिभाषित तथा स्थापित करता है। विवाह पुरूष तथा स्त्री के पति–पत्नी के रूप में यौन अधिकारों को सामाजिक तथा कानूनी मान्यता देता है तथा उनके यौन संबंधों का नियमन भी करता है। वैवाहिक संबंधों से उत्पन्न सन्तान को समाज में वैध संतान की मान्यता प्राप्त होती है।

भारत में विभिन्न सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक समूहों में विवाह से अलग–अलग पारंपरिक अवधारणाएं, मूल्य, रीति–रिवाज तथा प्रथाएँ प्रचलित हैं। इसमें से कुछ महत्वपूर्ण वैवाहिक रूप निम्नलिखित हैं :

भारत में हिन्दू विवाह

हिन्दू विवाह की सही व्याख्या समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से की जा सकती है। हिन्दू समुदाय में विवाह की विशिष्ट पहचान है। हिन्दू विवाह स्त्री और पुरूष के बीच सामाजिक मान्यता प्राप्त संबंध मात्र नहीं है बल्कि इसका धार्मिक एवं आध्यात्मिक पक्ष भी है। यह मूलतः एक पवित्र बंधन है एवं एक धार्मिक संस्कार है। इसका उद्देश्य व्यक्तियों के लिए शारीरिक सुख मात्र न होकर उनका आध्यात्मिक विकास भी है। के.एम. कपाड़िया का कहना है कि ''हिन्दू विवाह एक स्त्री और पुरूष

के बीच सामाजिक मान्यता प्राप्त बंधन है जिसका उद्देश्य धर्म, प्रजा, रीति तथा कुछ दायित्वों का निर्वहन है।'' पी.एच. प्रभु के अनुसार विवाह का प्राथमिक उद्देश्य पारिवारिक जीवन की निरंतरता है। विवाह पति–पत्नी को एक अटूट बंधन में बांधता है, जो जन्म जन्मान्तर तक बना रहता है। समाजशास्त्रियों ने भारत में वैवाहिक जीवन की तुलनात्मक स्थिरता को रेखांकित किया है।

हिन्दू विवाह के उद्देश्य

समाजशास्त्रियों एवं भारतविदों ने हिन्दू विवाह के निम्नलिखित उद्देश्यों की विवेचना की है:–

(क) एक संस्कार के रूप में हिंदू विवाह का पहला उद्देश्य कुछ धार्मिक कर्तव्यों को पूर्ण करना है। विवाह के अंतर्गत पति–पत्नी साथ रहते हैं और धार्मिक दायित्वों को पूरा करने के लिए संकल्पबद्ध होते हैं। एक पारंपरिक हिन्दू का जीवन चार अवस्थाओं या आश्रमों में विभाजित है इन्हें क्रमशः ब्रह्मचर्य (विद्यार्थी जीवन), गृहस्थ (पारिवारिक जीवन), वानप्रस्थ (अवकाश प्राप्त जीवन) एवं संन्यास (वीतरागी जीवन) कहते हैं। प्रत्येक आश्रम का प्रारंभ एक संस्कार से होता है जिसके दौरान वह एक विशेष संकल्प लेता है। संस्कारों का उद्देश्य मनुष्य के शरीर तथा मानस की शुद्धि है। विवाह संस्कार को गृहस्थ आश्रम का द्वार माना जाता है।

(ख) धर्म, प्रजा (प्रजनन) एवं रति (यौन सुख) जैसे धार्मिक कर्तव्यों को पूरा करने के लिए एक हिन्दू का विवाहित होना आवश्यक है। हिन्दू विवाह का सर्वप्रमुख उद्देश्य वर्ण, जाति एवं कुल के अनुरूप धर्म का पालन करना है।

(ग) विभिन्न संस्कारों में विवाह एक संस्कार है, जिसका उद्देश्य शरीर का शुद्धिकरण है। स्त्री के लिए इसका विशिष्ठ महत्व है, क्योंकि स्त्री के लिए यही सबसे प्रमुख संस्कार हैं।

(घ) हिंदू गृहस्थ से यह अपेक्षा की जाती है कि वह देवयज्ञ, भूतयज्ञ, नृयज्ञ एवं पितृयज्ञ जैसे पंचयज्ञों को संपन्न करें। इसके लिए वैदिक मंत्रों का जाप करने, अग्नि में घी हवन करने, विभिन्न जीवों को भोजन करना तथा अतिथि सत्कार एवं पूर्वजों को पिण्डदान या श्राद्ध करना आवश्यक है। यह सभी धार्मिक कृत्य पत्नी के साथ संपन्न किए जाने चाहिए।

(ङ) हिन्दुओं में तीन धार्मिक कर्तव्यों या ऋणों की मान्यता है। इन्हें पितृ ऋण, देव ऋण तथा गुरू ऋण कहा जाता है। विवाह पितृ ऋण से मुक्त होने के लिए आवश्यक माना गया है। पुत्र का जन्म पिता को पितृ ऋण से मुक्त कराता है। गृहस्थ धर्म की पूर्णता और धार्मिक अनुष्ठानों के निर्वहन के लिए पत्नी की भूमिका अनिवार्य है। इसलिए हिन्दुओं में पत्नी को अर्धांगिनी एवं पति को अर्धांग कहा जाता है।

हिन्दू विवाह के प्रकार

हिन्दू धर्म ग्रंथों में विवाह के आठ प्रकार का वर्णन है जो निम्नलिखित हैंः

1. *ब्रह्म विवाह* : हिन्दुओं में यह आदर्श, सबसे लोकप्रिय और प्रतिष्ठित विवाह का रूप माना जाता है। इस विवाह के अंतर्गत कन्या का पिता अपनी अपनी कन्या के लिए विद्वता, सामर्थ एवं चरित्र की दृष्टि से सबसे सुयोग्य वर को विवाह के लिए आमंत्रित करता है। और उसके साथ पुत्री का कन्यादान करता है। इसे आजकल सामाजिक विवाह या कन्यादान विवाह भी कहा जाता है।
2. *दैव विवाह* : इस विवाह के अंतर्गत कन्या का पिता अपनी सुपुत्री को यज्ञ कराने वाले पुरोहित को देता था। यह प्राचीन काल में एक आदर्श विवाह माना जाता था। आजकल यह अप्रासंगिक हो गया है।
3. *आर्ष विवाह* : यह प्राचीन काल में सन्यासियों तथा ऋषियों में गृहस्थ बनने की इच्छा जागने पर विवाह की स्वीकृति पद्धति थी। ऋषि अपनी पसन्द की कन्या के पिता को गाय और बैल का एक जोड़ा भेंट करता था। यदि कन्या के पिता को यह रिश्ता मंजूर होता था तो वह यह भेंट स्वीकार कर लेता था और विवाह हो जाता

था परन्तु रिश्ता मंजूर नहीं होने पर यह भेंट सादर लौटा दी जाती थी।

4. *प्रजापत्य विवाह* : यह ब्रह्म विवाह का एक कम विस्तृत, संशोधित रूप था। दोनों में मूल अंतर सपिण्ड बहिर्विवाह के नियम तक सीमित था। ब्राह्म विवाह का आदर्श पिता की तरफ से सात एवं माता की तरफ से पाँच पीढ़ियों तक जुड़े लोगों से विवाह संबंध नहीं रखने का रहा है। जबकि प्रजापत्य विवाह पिता की तरफ से पांच एवं माता की तरफ से तीन पीढ़ियों के सपिण्डों में ही विवाह निषेध की बात करता है।
5. *असुर विवाह* : यह विवाह का वह रूप है जिसमें ब्रह्म विवाह या कन्यादान के आदर्श के विपरीत कन्यामूल्य एवं अदला–बदली की इजाजत दी गई है। ब्रह्म विवाह में कन्यामूल्य लेना कन्या के पिता के लिए निषिद्ध है। ब्रह्म विवाह में कन्या के भाई और वर की बहन का विवाह (अदला–बदली) भी निषिद्ध होता है।
6. *गंधर्व विवाह* : यह आधुनिक प्रेम विवाह का पारंपरिक रूप था। इस विवाह की कुछ विशेष परिस्थितियों एवं विशेष वर्गों में स्वीकृति थी परन्तु परंपरा में इसे आदर्श विवाह नहीं माना जाता था।
7. *राक्षस विवाह* : यह विवाह आदिवासियों में लोकप्रिय हरण विवाह को हिन्दू विवाह में दी गई स्वीकृति है। प्राचीन काल में राजाओं और कबीलों ने युद्ध में हारे राजा तथा सरदारों में मैत्री संबंध बनाने के उद्देश्य से

उनकी पुत्रियों से विवाह करने की प्रथा चलायी थी। इस विवाह में स्त्री को जीत के प्रतीक के रूप में पत्नी बनाया जाता था। यह स्वीकृत था परंतु आदर्श नहीं माना जाता था।

8. *पैशाच विवाह* : यह विवाह का निकृष्टतम रूप माना गया है। यह धोखे या जबरदस्ती से शीलहरण की गई लड़की के अधिकारों की रक्षा के लिए अंतिम विकल्प के रूप में स्वीकारा गया विवाह रूप माना गया है। इस विवाह से उत्पन्न संतान को वैध संतान के सारे अधिकार प्राप्त होते हैं।

समकालीन भारत में विवाह

आजकल भारत में प्रायः एक विवाह प्रथा ही अपनाई जाती है। प्रत्येक सामाजिक–धार्मिक समुदाय में विवाह की आयु बढ़ रही है। अधिकांश विवाह माता–पिता द्वारा तय किए जाते हैं, परंतु लड़के–लड़की की राय भी ली जाने लगी है। शहरी इलाकों में अंर्तजातिय एवं अंर्तसामुदायिक विवाह भी होने लगे हैं। वरमूल्य (डाउरी) की प्रथा उन समुदायों में भी बढ़ रही है जिनमें इसका प्रचलन नहीं था। उदाहरण के लिए मुसलमानों, ईसाईयों तथा कुछ जनजातीय समूहों में। पारंपरिक 'दहेज' एक स्वैच्छिक दान का रूप था जबकि आधुनिक 'डाउरी' एक प्रकार का वर–मूल्य की प्रथा 'समुदाय' एवं

सामुदायिक आदर्शों के लगातार कमजोर पड़ने तथा व्यक्ति एवं परिवार के निहित स्वार्थों के महत्वपूर्ण बनने का प्रतीक है। यह प्रचलन बहू तथा उसके सास–ससुर के प्रेम और आत्मीयता के बंधन को गंभीरता से प्रभावित करता है खासकर तब जब उसके जन्म वाले परिवार से बहुत अधिक मांग की जाती है। यह प्रचलन उस कन्या के लिए अंर्तहीन दुखों का कारण बनता है जिसके माता–पिता वर के घर वालों के लालच को पूरा करने में असमर्थ होते हैं। भारत सरकार द्वारा दहेज निरोधक कानून बनाया गया है। स्त्रियों की आर्थिक आत्म–निर्भरता तथा उनमें स्वाभिमान की भावना एवं भावी वर के ज्ञानोदय से इस प्रथा को हतोत्साहित किया जा सकता है। तलाक तथा अलगाव की दर में वृद्धि हुई है। पत्नियाँ अपने अधिकारों के प्रति अधिक जागरूक एवं आग्रही हो रही हैं। फलस्वरूप प्रजातांत्रिक माहौल में पति–पत्नी की भूमिकाएँ पुर्नपरिभाषित हो रही हैं। आजकल पति के लिए घर के कामों में हाथ बंटाना असामान्य नहीं है। खासकर जब पत्नी भी नौकरी या व्यवसाय करती हो। अन्य समाजों की तुलना में भारतीय समाज में विवाह संस्था का स्थायित्व अभी भी कायम है।

जीवन साथी चुनने के नियम

समाज के एक खास समूह की पहचान व पवित्रता कायम रखने के लिए हिन्दू स्मृतिकारों ने योग्य साथी चुनने या विवाह करने के लिए विस्तृत नियम तथा रीतियों की व्यवस्था दी है। ये नियम दो सिद्धांतों पर आधारित हैं, यथा अन्तर्विवाह के नियम तथा बहिर्विवाह के नियम।

अन्तर्विवाह

जीवन साथी चुनने के लिए अपनी जाति या उपजाति के अंतर्गत ही चुनाव करने की स्वतंत्रता है।

1. *जातीय अंतर्विवाहः* इस नियम के अंतर्गत एक व्यक्ति को अपनी जाति के अंतर्गत ही विवाह करने की छूट है। कोई व्यक्ति अपनी जाति के बाहर विवाह नहीं कर सकता। इस नियम को नहीं मानने वाले व्यक्ति को जाति पंचायत के द्वारा सामाजिक एवं आर्थिक रूप से कठोर दंड दिया जाता है। दंड के फलस्वरूप व्यक्ति के साथ जातिगत सहयोग और सुरक्षा के हर दरवाजे बंद कर दिए जाते हैं और उसे जाति से बहिष्कृत कर दिया जाता है।

2. *उपजातीय अंतर्विवाह* : प्रत्येक जाति अनेक उपजाति में विभक्त होती है जिनमें तुलनात्मक श्रेष्ठता को लेकर अंतर्विरोध होता है। ऐसे प्रत्येक समूह धीरे–धीरे

अंतर्विवाही बन जाते हैं। जैसे ब्राह्मण जाति के अंतर्गत ही सारस्वत, गौंड़, कान्यकूब्ज जैसी उपजातियाँ हैं जो अंतर्विवाही हैं।

बहिर्विवाहः

बहिर्विवाह के नियम के अनुसार हर व्यक्ति को अपने समूह के बाहर विवाह करना होता है। यद्यपि अंतर्विवाह एवं बहिर्विवाह के नियम प्रत्यक्ष रूप में विरोधी दिखाई पड़ते हैं परन्तु दोनों नियम एक–दूसरे के पूरक हैं तथा दो स्तरों पर व्यवहारित होते हैं। हिन्दू समाज में बहिर्विवाह के दो रूप पाये जाते हैं :–

1. *सगोत्र बहिर्विवाह* : एक गोत्र से जुड़े व्यक्ति सगोत्रीय कहलाते हैं। गोत्र वह वंश (क्लान) या परिवार समूह है, जिसके सदस्य आपस में विवाह करने से प्रतिबंधित होते हैं। यह मान्यता है कि सभी सगोत्रीय एक ही पूर्वज की संतान होते हैं और उन सभी में रक्त संबंध होता है। सगोत्र बहिर्विवाह के नियम को हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 ने अप्रभावी बना दिया है।

2. *सपिण्ड बहिर्विवाह* : सपिण्ड लोग एक दूसरे के रक्त संबंधी होते हैं। पिता की ओर से सात एवं माता की ओर से पांच पीढ़ियों तक जुड़े रक्त संबंध सपिण्ड कहलाते हैं। एक व्यक्ति अपने जीवन साथी का चुनाव सपिण्ड समूह के अंतर्गत नहीं कर सकता। हिंदू विवाह अधिनियम, 1955 सामान्यतः सपिण्ड अन्तर्विवाह की

इजाजत नहीं देता, परन्तु दक्षिण भारत में प्रचलित ममेरे–फुफेरे भाई बहनों को भी प्रथागत रूप में अपवाद स्वरूप स्वीकार करता है। सपिण्ड बहिर्विवाह का नियम सपिण्ड रिश्तेदारों में विवाह का निषेध करता है। जीवित व्यक्ति और उसके मरे हुए पुरखों के बीच संबंध को सपिण्ड संबंध कहते हैं। सपिण्ड का अर्थ है (1) वे जिनके शरीर का पिण्ड एक समान हैं तथा (2) वे जो मृत पूर्वज को एक साथ पिण्ड दान करते हैं। हिंदू स्मृतिकार सगोत्र की अलग–अलग परिभाषा देते हैं। हिंदू विवाह अधिनियम, 1955 पिता की तरफ से पांच पीढ़ियों एवं माता की तरफ से तीन पीढ़ियों तक सपिण्ड संबंध से जुड़े व्यक्तियों के बीच वैवाहिक संबंध की स्वीकृति नहीं देता।

अंतर्जातीय विवाहः

दो भिन्न जातियों के स्त्री–पुरूष के बीच के वैवाहिक संबंध को अंतर्जातीय विवाह कहते हैं। उदाहरण के लिए, जब ब्राह्मण जाति की एक स्त्री बुनकर जाति के एक पुरूष से विवाह करती है तो इसे अंतर्जातीय विवाह कहते हैं। प्रथा के अनुसार अंतर्जातीय विवाह का स्वीकृति नहीं है, परन्तु अब शहरी इलाकों में इस प्रथा का पूरी तरह से पालन नहीं किया जाता।

विवाह के अन्य नियम :

1. *अनुलोम विवाह* – अनुलोम उस विवाह को कहते हैं, जिसमें उच्च कुल का पुरूष निम्न कुल की स्त्री से विवाह करता है।
2. *प्रतिलोम विवाह* – प्रतिलोम उस विवाह को कहते हैं, जिसमें उच्च कुल की स्त्री निम्न कुल के पुरूष से विवाह करती है। विशेष विवाह अधिनियम, 1954, हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955, हिन्दू विवाह कानून (संशोधन) अधिनियम, 1976 इत्यादि के कारण अब अंतर्जातीय विवाह को कानूनी मान्यता प्राप्त हो गई है। फलस्वरूप प्रतिलोम नियम कमजोर हो गया है।

भारत में जनजातीय विवाह

भारत की अधिकांश जनजातियाँ एक विवाही हैं और केवल अपवाद स्वरूप ही कुछ त्यौहारों के अवसर पर यौन नैतिकता में छूट दी जाती है। टोडा, अंडमानी, कादर, चेंचू जैसे सबसे कम विकसित जनजातियों में भी विवाह के सुस्पष्ट नियम देखने को मिलते हैं। अधिकांश जनजातियों में वैवाहिक निष्ठा का आदर्श सख्ती से लागू किया जाता है। जीवन साथी के चुनाव में निषेध, आदर्शात्मक आदेश एवं पहली पसंद आदि

के बारे में जनजातीय समाज में व्यवस्थित एवं विस्तृत रीति रिवाज होते हैं।

जीवन साथी का चुनाव

जीवन साथी चुनने की रीति के आधार पर भारत की जनजातियाँ एक दूसरे से भिन्न हैं। भारत के अधिकांश जनजातियाँ अपने नातेदारों में ही जीवन–साथी का चुनाव करना पसंद करती हैं। गोंड तथा खासी ममेरी बहन तथा फुफेरे भाई के बीच विवाह को प्राथमिकता देते हैं। ऐसे विवाहों को कन्या मूल्य देने से बचने या घर की संपत्ति को घर में ही रखने के रूप में देखा जा सकता है। उदाहरण के लिए गोंड लोग इसे दूध लौटाना कहते हैं जिसका अर्थ है कि एक आदमी अपनी पत्नी के लिए जो कन्या–मूल्य देता है वह लौटा देता है। ममेरी बहन और फुफेरे भाई के विवाह के अलावा भारतीय जनजातियों में दो अन्य पसंदीदा विवाह रूप निम्नलिखित हैं :–

(क) *देवर विवाह* – विवाह के रूप में एक स्त्री अपने मृत पति के छोटे भाई से विवाह कर सकती है।

(ख) *साली विवाह* – इसके भी दो रूप हैं – पहला, पत्नी की मृत्यु के बाद पति उसकी छोटी बहन के साथ विवाह कर सकता है। दूसरा, पत्नी की छोटी बहन अपने आप उसकी पत्नी बन जाती है।

जनजातीय समुदाय में विवाह

जनजातीय विवाह यौन सुख, संतान उत्पत्ति तथा आपसी सहयोग के लिए एक सामाजिक समझौता माना जाता है। हिन्दू विवाह की तरह यह एक धार्मिक संस्कार नहीं माना जाता। इसमें मुख्यतः जीवन–साथी चुनने के आठ तरीके हैं:–

1. *परिवीक्षा विवाह* – इस प्रकार के विवाह के अंतर्गत एक युवक एक निश्चित समय तक एक युवती के साथ उसके पिता के घर रहता है। यदि इस परिवीक्षा काल में वे दोनों एक दूसरे के साथ रहना पसंद करने लगते हैं तो उनका विवाह कर दिया जाता है, अन्यथा वे लोग अलग हो जाते हैं और क्षतिपूर्ति के रूप में युवक कन्या को कुछ धन देता है। यदि युवती इस परिवीक्षा काल में गर्भवती हो जाती है तो युवक को उस युवती से विवाह करना ही पड़ता है। इस प्रकार का विवाह मणिपुर की कूकी जनजाति में पाया जाता है।
2. *हरण विवाह* – यह विवाह का वह तरीका है जिसमें युवती की इच्छा के बगैर ही युवक उससे जबरदस्ती विवाह करता है। कन्या मूल्य में वृद्धि इसका मुख्य कारण माना जाता है। हरण विवाह के दो रूप पाये जाते हैं:

   (क) शारीरिक हरण विवाह – युवक ऐसी युक्ति अपनाता है, जिसके तहत वह युवती का जबरदस्ती हरण करके

उससे विवाह करता है। यह नागा, हो, भील, मुरिया गौंड, बदगा, साओरा आदि जनजातियों में पाया जाता है।

(ख) अनुष्ठानिक हरण विवाह – युवक एक ऐसी प्रक्रिया अपनाता है जिसमें वह अचानक लड़की के ललाट में सिंदूर भर कर उसे चकित कर देता है। यह संथाल जनजाति में पाया जाता है।

3. *परीक्षा विवाह* – भारत की कुछ जनजातियों में पत्नी प्राप्त करने से पहले सामने उपस्थित की गई बाधाओं का सामना करके अपना सामर्थ्य तथा साहस साबित करना पड़ता है। यह भील तथा अन्य जनजातियों में पाया जाता है। भीलों में होली उत्सव के दौरान विवाह के इच्छुक युवक एवं युवतियां एक पेड़ या खंभे के चारों ओर लोकनृत्य करते हैं। उस पेड़ या खंभे की चोटी पर नारियल और गुड बांधा जाता है। युवतियाँ पेड़ के चारों ओर वृत बनाकर नाचती हैं और युवक युवतियों के वृत के चारों ओर वृत बनाकर नाचते हैं। हर युवक पेड़ या खंभे के नजदीक पहुँचने की कोशिश करता है। युवतियाँ इन युवकों को रोकने की हर संभव कोशिश करती हैं। उदाहरण के लिए – उन्हें डंडे से पीटा जाता है और उनके कपड़े फाड़ दिए जाते हैं। इन अवरोधों के बावजूद अगर कोई युवक पेड पर चढ़कर नारियल तोड़ कर गुड खा लेता है तो उसे नाचती हुई युवतियों में से किसी भी एक के साथ विवाह करने का अधिकार होता है।

4. *क्रय विवाह* – जनजातीय विवाह के इस रूप में दूल्हे के माता–पिता कन्या के माता–पिता को नगद या सामान के रूप में कुछ धन देते हैं। इसे कन्या–मूल्य कहा जाता है। एक गारो पुरूष बिना कन्या–मूल्य चुकाए कन्या प्राप्त नहीं कर सकता। कन्या मूल्य को एक प्रकार का मुआवजा माना जाता है जो जनजातीय प्रथा एवं परंपरा के अनुसार कन्या के पिता को वर–पक्ष द्वारा दिया जाता है। इसके अलावा कन्या–मूल्य एक प्रकार से वर–पक्ष द्वारा विवाह भोज के लिए दिया गया योगदान भी माना जाता है। सामान्यतया कन्या–मूल्य का अधिकांश भाग विवाह भोज पर ही खर्च किया जाता है। यह व्यवस्था मध्य भारत की जनजातियों जैसे–नागा और जुआंग में पाई जाती है।
5. *सेवा विवाह* – कुछ जनजातीय परिवारों द्वारा यह प्रथा अपनाई जाती है। इस प्रथा के अनुसार वर अपने होने वाले ससुर के घर विवाह के पहले एक निश्चित समय तक सेवा करता है। इस अवधि की समाप्ति के बाद यदि लड़की का पिता उस युवक के काम से संतुष्ट होता है तो उसे अपनी बेटी का हाथ दे देता है। परंतु यदि वह उसके कार्य से असंतुष्ट होता है तो उसे अपने घर से निष्कासित कर देता है। इस अवधि के दौरान वह युवक अपनी होने वाली पत्नी के साथ यौन संबंध स्थापित नहीं कर सकता। सेवा की अवधि तथा सेवा की रूपरेखा के बारे में विभिन्न जनजातियों में अलग–अलग प्रथा है। गोंड, बैगा, आदि भारतीय जनजातियों में यह पाया जाता है।

6. *विनिमय विवाह* – इस विवाह के अंतर्गत दो परिवारों के बीच उनके पुत्र ओर पुत्री के बीच विनिमय होता है। फलस्वरूप दोनों परिवारों को कन्या मूल नहीं चुकाना पड़ता। भारतीय जनजातियों में विवाह का यह रूप प्रचलित रहा है। मुरिया गोंड, बैगा (बस्तर) कोया एवं सओरा (आंध्रप्रदेश) एवं उराली (केरल) जनजातियों में यह लोकप्रिय है।
7. *पलायन विवाह* – इस विवाह में एक युवक एवं एक युवती परस्पर प्रेम करते हैं और विवाह करना चाहते हैं परन्तु उनके माता–पिता इसके लिए सहमत नहीं होते। ऐसी स्थिति में दोनों निवास छोड़कर आपसी सहमति से पलायन कर जाते हैं। कुछ समय बाद वे वापस लौट आते हैं और उन्हें पति–पत्नी के रूप में स्वीकार कर लिया जाता है। झारखंड राज्य की हो जनजाति में इसे राजी खुशी विवाह कहा जाता है।
8. *हठ विवाह* – जब कोई युवक किसी स्त्री से शादी का वादा करके उसके साथ आत्मीय संबंध बनाना है। परंतु किसी न किसी बहाने विवाह करने में आना–कानी करता है तो वह स्त्री खुद पहल करके उसके घर में घुस जाती है। उस स्त्री को युवक के माता–पिता द्वारा बहुत प्रताड़ित किया जाता है, मारा–पीटा जाता है। यदि कन्या यह सब सह लेती है तो पड़ोसी उस युवक को उस स्त्री से विवाह करने के लिए बाध्य करते हैं। ओरांव जनजाति में इसे

निबोलोक एवं हो जनजाति में इसे अनादर विवाह कहा जाता है।

जनजातीय विवाह के प्रकार

1. *एक विवाह* – यह विवाह का आदर्श रूप है। एक स्त्री के साथ एक पुरूष के विवाह को एक विवाह या मोनोगैमी कहते हैं। पति–पत्नी के जीवित रहते हुए कोई भी दूसरा विवाह नहीं कर सकता। भारत की कई जनजातियों में इस विवाह का प्रचलन है। खासकर पूर्वोत्तर भारत की मातृवंशीय जनजातियाँ जैसे–खासी, सिनटैंग तथा गारो में यह विवाह का पसंदीदा रूप है।
2. *बहु विवाह* – यह विवाह का वह रूप है जिसमें एक पुरूष दो या दो से अधिक स्त्रियों से विवाह या एक स्त्री दो या दो से अधिक पुरूषों से विवाह करती है। बहुविवाह के इस तरह दो रूप पाये जाते हैं :–
3. *बहुपत्नी विवाह* – इसके अंतर्गत एक पुरूष एक से अधिक स्त्री के साथ विवाह कर सकता है। यह नागा, बैगा, गोंड तथा टोड़ा जनजाति में पाया जाता है।
4. *बहुपति विवाह* – एक स्त्री अधिक पुरूषों से विवाह कर सकती है। इसके भी दो रूप पाये जाते हैं:–

(क) सगे भाइयों से बहुपति विवाह – यह विवाह का वह रूप है जिसमें एक स्त्री एक ही परिवार के सभी भाइयों से एक साथ विवाह करती है। यह दक्षिण भारत की टोड़ा एवं उत्तर भारत की जौनसार बाबर की खासा जनजाति में विशेष रूप से पाया जाता है। इस विवाह से उत्पन्न बच्चों के पिता के बारे में निर्णय एक सामाजिक उत्सव के द्वारा किया जाता है।

(ख) असंबद्ध पुरूषों से बहुपति विवाह – इस विवाह के अंतर्गत एक स्त्री भिन्न–भिन्न परिवार के पुरूषों से (जो असंबद्ध होते हैं) एक ही साथ विवाह करती है। विवाह का यह रूप मूलतः टोड़ा जनजाति में ही पाया जाता है। विवाह के अंतर्गत जब कोई बच्चा पैदा होता है तो उसके पिता का निर्णय एक विशेष कर्मकाण्ड के अनुसार होता है।

भारत में मुस्लिम विवाह

मुस्लिम विवाह को 'निकाह' कहा जाता है। अवधारणा के स्तर पर मुस्लिम विवाह एक सामाजिक समझौता या नागरिक समझौता है। परन्तु व्यवहारिक स्तर पर भारत में मुस्लिम विवाह भी धार्मिक है। भारतीय मुसलमानों में अन्य समुदायों की तुलना में तलाक की दर अधिक है। पति–पत्नी के बीच वैवाहिक संबंध की तुलनात्मक स्थिरता भारतीय

संस्कृति की साझी विरासत है। भारत में मुस्लिम विवाह अरब दुनियाँ तथा अन्य स्थानों की तुलना में ज्यादा स्थायी पाया गया है।

भारत में मुस्लिम समुदाय दो प्रमुख सम्प्रदायों–शिया एवं सुन्नी में विभाजित है। मोटे तौर पर वे लोग तीन समूहों में विभाजित है। (क) अशरफ (सैयद, शेख पठान, इत्यादि), (ख) अजलब (मोमिन, मंसूर, इब्राहिम इत्यादि), तथा (ग) अरजल (हलालखोर इत्यादि) ये सभी समूह अंतर्विवाही माने जाते हैं तथा इनके बीच बर्हिविवाह को प्रोत्साहन नहीं दिया जाता। कर्मकाण्ड की दृष्टि से विभिन्न सम्प्रदायों तथा समूहों में अंतर पाया जाता है। परन्तु हर मुस्लिम विवाह (निकाह) की पारिभाषिक विशेषताएँ एक समान होती हैं। मुस्लिम पर्सनल लॉ के अनुसार मुस्लिम विवाह में चार भागीदारों का होना आवश्यक है:–

(1) दूल्हा
(2) दुल्हन
(3) काजी, तथा
(4) गवाह (दो पुरूष या चार स्त्री गवाह) जो सामाजिक धार्मिक कानूनी समझौता (निकाह) के साक्षी होते हैं।

दूल्हा तथा दुल्हन को काजी औपचारिक रूप से (एकत्रित स्थानीय समुदाय तथा चुने हुए गवाहों के सामने) पूछता है कि वे इस विवाह के लिए स्वेच्छा से राजी है या

नहीं। यदि वे इस विवाह के लिए 'स्वेच्छा' से राजी होने की औपचारिक घोषणा करते हैं तो निकाहनामा पर समझौते की प्रक्रिया पूरी की जाती है। इस निकाहनामे में महर (या मेहर) की रकम शामिल होती है जिसे विवाह के समय या बाद में दूल्हा–दुल्हन को देता है। महर एक प्रकार का स्त्री–धन है।

भारत में विवाह की रस्म हिन्दुओं तथा मुसलमानों दोनों समुदायों में दुल्हन के घर पर ही करने की प्रथा है। एक क्षेत्र के हिन्दुओं तथा मुसलमानों में कई प्रथायें समान रूप से मानी जाती हैं। उदाहरण के लिए केरल के मोपला मुसलमानों में 'कल्याणम' नामक हिन्दू कर्मकाण्ड पारंपरिक निकाह का आवश्यक अग माना जाता है। चचेरे भाई बहनों का विवाह मुसलमानों में पसंदीदा विवाह माना जाता है। विधवा पुनर्विवाह मुस्लिम समुदाय में निषिद्ध नहीं है।

मुसलमानों में दो प्रकार के विवाह की अवधारणा है। 'सही' या नियमित तथा 'फसीद' या अनियमित। अनियमित विवाह निम्नलिखित स्थितियों में हो सकता है:

क. यदि प्रस्ताव करते समय या स्वीकृति के समय गवाह अनुपस्थित हो,

ख. एक पुरूष का पांचवाँ विवाह

ग. एक स्त्री का 'इद्दत' की अवध में किया गया विवाह। (इद्दत की अवध तकालशुदा के लिए तीन माह और

विधवा के लिए चार माह दस दिन है जिसमें यह सुनिश्चित किया जाता है। कि स्त्री गर्भवती नहीं है)।

घ. पति और पत्नी के धर्म में अंतर होने पर।

भारत में ईसाई विवाह

भारतीय ईसाइयों में विवाह की बहुत सी रीतियाँ हिन्दुओं के वैवाहिक रीतियों के समान है। हिन्दुओं के समान ही ईसाईयों में भी यह मान्यता है कि विवाह दैवीय इच्छा द्वारा निर्धारित होता है। परन्तु हिन्दुओं की तरह ईसाइयों में विवाह एक धार्मिक कर्तव्य नहीं माना जाता। इसका एक धार्मिक आयाम अवश्य है। परन्तु प्राथमिक रूप से भारतीय ईसाइयों में विवाह एक सामाजिक संस्था है।

जीवन साथी का चुनाव या तो माता–पिता करते हैं या बच्चे स्वयं करते हैं। जीवन साथी का चुनाव करते समय निकट संबंधियों का निषेध करते हुए युवक एवं युवती की पारिवारिक स्थिति, उनके चरित्र, शिक्षा, स्वास्थ्य इत्यादि पर ध्यान दिया जाता है। हिन्दुओं और ईसाईयों में विवाह के अधिकांश नियम मिलते जुलते हैं। सगाई की रस्म के बाद वैवाहिक रस्मों में निम्नलिखित चरण हैं:

(क) चरित्र प्रमाण–पत्र पेश किया जाता है।

(ख) विवाह की नियत–तिथि से तीन सप्ताह पहले चर्च में आवेदन पत्र प्रस्तावित किया जाता है।

(ग) चर्च के पादरी प्रस्तावित विवाह के बारे में लोगों की राय आमंत्रित करते हैं, अगर किसी को आपत्ति नहीं होती तो विवाह की एक तिथि नियत की जाती है, और

(घ) विवाह की अंगूठी का (दूसरी अंगूठी, सगाई की अंगूठी से भिन्न) चर्च में अदला–बदली होती है तथा दंपत्ति दो गवाहों की उपस्थिति में ईसा मसीह को साक्षी मानते हुए एक–दूसरे को पति–पत्नी के रूप में स्वीकार करने की घोषणा करते हैं।

विवाह की रस्म चर्च (गिरिजा घर) में पूरी की जाती है। विवाह के बाद अन्य समुदायों की तरह ईसाईयों में भी सामुदायिक भोज देने का रिवाज है। ईसाई लोग बहुविवाह की इजाजत नहीं देते। चर्च भी हिन्दू परंपरा की तरह तलाक की स्वीकृति नहीं देता परन्तु ईसाईयों में तलाक होते हैं। भारत के ईसाई चर्च की प्रथाओं के साथ–साथ भारतीय संविधान के नियमों को भी मानते हैं।

चर्च की परंपराओं के अनुसार ईसाई विवाह में न 'महर' की स्वीकृति है न 'दहेज' की परन्तु वर–मूल्य (डाउरी) प्रथा हिन्दू प्रभाव से बढ़ रहा है। विधवा तथा तलाकशुदा स्त्री का पुनर्विवाह न सिर्फ स्वीकृत है बल्कि इसका प्रोत्साहन दिया जाता है।

अध्याय 4
भारत में मन्दिर

भारत में मंदिर केवल देव स्थान नहीं है बल्कि यह अपने आप में एक पवित्रतम जगह है। मंदिर में प्रवेश करते ही हमारी आत्मा एक शुद्ध वातावरण में प्रवेश करती है। मंदिर हमारे भीतर दैवीय अनुभूतियों को भरता है। यह हमें ईश्वरीय प्रेरणा एवं शांत वातावरण की परिधि में लपेट कर विशिष्ट बना देता है। नास्तिक व्यक्ति को भी थोड़ी देर के लिए हीं सही आस्तिक अनुभूतियों से भर देता है। भारत में मंदिरों के कई प्रकार है। इन्हें मूलतः उत्तर भारतीय एवं दक्षिण भारतीय मॉडलों में समझा जा सकता है। उत्तर भारतीय मंदिर, उत्तर भारतीय समाज एवं हिन्दी सिनेमा के बीच अन्योनाश्रित संबंध है जिसे दक्षिण भारतीय संदर्भ से अलग करके देखना एवं समझना पड़ेगा। दक्षिण भारतीय मंदिर, दक्षिण भारतीय समाज तथा दक्षिण भारतीय सिनेमा ऐतिहासिक रूप से एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। ऐतिहासिक विकास एवं भाषाई विन्यास की दृष्टि से दक्षिण एवं उत्तर भारत का विकास अलग अलग तरह से हुआ है। फलस्वरूप इनको एक साथ समझने में व्यवहारिक कठिनाईयाँ आती हैं। सैद्धाँतिक स्तर पर भी इनको एक फ्रेमवर्क में नहीं समझा जा सकता। अंग्रेजी राज में शंकराचार्य के सैद्धांतिक फ्रेमवर्क में भारत के मंदिरों की व्यवस्था समझने

समझाने की कोशिश होती रही है जबकि भारतीय समाज के भीतर रामानुजाचार्य एवं वल्लभाचार्य जैसे भक्ति आचार्यों का प्रभाव ज्यादा रहा है। शंकराचार्य की व्यवस्था के अनुसार भारत के चारों कोनों में मठों का निर्माण हुआ था जो दक्षिण में श्रृंगेरी, उत्तर में बद्रीकाश्रम, पूर्व में पुरी, एवं पश्चिम में द्वारका में शंकरपीठ बनाए गए। इसके साथ शंकराचार्य ने नागा संन्यासियों का दसनामी सम्प्रदाय भी बनाया था। लेकिन गृहस्थ हिन्दुओं के लिए भक्ति आंदोलन के दौरान अनगिनत मंदिरों का निर्माण हुआ और इनकी पूजा पद्धति विकसित हुई जिस पर भक्ति साहित्य का प्रभाव है। दुर्भाग्य से भक्ति साहित्य के धार्मिक् एवं सम्प्रदायिक महत्व का अब तक अघ्ययन नहीं हुआ है। इसे मात्र साहित्य मानकर अध्ययन हुआ है। बारहवीं शताब्दी से सतरहवीं शताब्दी तक खासकर उत्तर भारत में भक्ति साहित्य की अविरल धारा लगातार बहती रही जिसके प्रभाव में उत्तर भारत का समाज और उत्तर भारत के मंदिरों की पूजा पद्धति विकसित हुई। 18वीं शताब्दी से अंग्रेजी राज भारत में आया जिसने भारतीय समाज का आधुनिकीकरण शुरू किया परंतु इसका दक्षिण एवं उत्तर भारत में अलग अलग प्रभाव पड़ा। इस प्रभाव को उत्तर एवं दक्षिण भारत के आधुनिक साहित्य एवं सिनेमा में आसानी से देखा जा सकता है। परंतु समाज विज्ञानों में इनडोलौजिकल स्टडीज़ के तहत पश्चिमी विद्वानों ने हिन्दू शास्त्रों के आधिकारिक पाठों को संपादित एवं प्रकाशित किया जिस पर यूरोपीय मान्यताओं का स्पष्ट असर है। यूरोपीय मान्याताओं के अनुसार शंकराचार्य को

अखिल भारतीय स्तर का एक मात्र सिद्धांतकार घोषित किया गया तथा उत्तर भारतीय मंदिरों को दक्षिण भारतीय मंदिरों का भग्नावशेष माना गया। यह माना गया कि मुस्लिम आक्रमण के दौरान उत्तर भारत की व्यवस्था टूट गई थी फलस्वरूप उत्तर भारत के श्रद्धालु मंदिरों में ईश्वर की प्रतिमाओं को स्पर्श करने लगे जबकि दक्षिण में श्रद्धालु मंदिरों में ईश्वर की प्रतिमाओं का स्पर्श नहीं कर सकते केवल दूर से दर्शन कर सकते हैं। यह एक प्रकार का कृत्रिम अनुमान है जिसका उत्तर भरतीय समाज से कोई लेना देना नहीं है। साहित्य, ज्योतिष, आयुर्वेद, दर्शन, नीतिशास्त्र, कृषि, त्योहार, व्रत, मंत्रोपचार और सामाजिक रीतिरिवाज का पारंपरिक फ्रेमवर्क में समन्वित अध्ययन होना अभी बाकी है। समकालीन समय में स्वामी विवेकानन्द एवं महात्मा गांधी ने भारतीय समाज को समझने के लिए अलग अलग विमर्श विकसित किया है। दोनो विमर्शों में भारतीय समाज की समकालीन परिस्थिति के लिए एक प्रकार का क्षोभ एवं क्रोध है जबकि भारत के पारंपरिक विमर्श की भाषा में करूणा पाई जाती है। उदाहरण के लिए भगवान बुद्ध और रामकृष्ण की भाषा में करूणा है।

ईश्वर की बनाई दुनिया में ईश्वरीय सत्ता की सूक्ष्म उपस्थिति हर जगह है। इस उपस्थिति के प्रति मनुष्य का अज्ञान ही उसे एक त्रासदी से दूसरे त्रासदी में घसीटता है। माया महाठगनी हम जानी। लोभ, मोह, मद, क्रोध ने बहुतों को नचाया। नारद जैसे महामुनी को नचाया। विश्वामित्र जैसे

महर्षि को भरमाया। रावण जैसे महान योद्धा और महान पंडित को कुमार्ग पर ले गया। संतोष नहीं हो तो माया बहुत छकाती है। मंदिर के दर्शन से माया की ताकत घटती है और विवेक बढ़ता है। इसिलिए हिन्दू मंदिरों में अधिकांश समय श्रद्धालुओं की भीड़ लगी रहती है।

हिन्दुत्व का अर्थ

हिन्दुत्व की अवधारणा में दयानंद, विवेकानंद ,तिलक, श्री अरविंद और सावरकर के बाद एक भी नया शब्द किसी ने नहीं जोड़ा है। संघ, जनसंघ और भाजपा आज तक उधार की कमाई पर ही गुजारा कर रहे हैं। यह कितना बड़ा चमत्कार है कि उधार की विचारधारा , उधार के नेता और उधार के संगठन के दम पर भाजपा सारे देश में फैल गई और उसने अनेक राज्यों व केन्द्र में भी अपनी सरकार बना ली। इसका मुख्य श्रेय भाजपा के कार्यकर्ताओं को है। वैचारिक शून्यता को विचारधारा कहकर कब तक गाड़ी चलाई जाएगी ? उदार हिन्दुत्व, सांस्कृतिक राष्ट्रवाद, एकात्म मानववाद, मुस्लिम अविद्वेष, पंथ निरपेक्षता आदि कोरे कामचलाऊ शब्द हैं जिनका अर्थ बीसवीं सदीं के सामाजिक संदर्भों पर निर्भर था। इक्कीसवीं सदी के आधुनिक भारत को परिभाषित करने में ये शब्द समर्थ नहीं हैं। किसी सफल राजनीतिक दल के पीछे कोई लौह आबद्ध विचारधारा हो, यह आवश्यक नहीं है। खासकर

लोकतांत्रिक व्यवस्था में। गुलाम भारत और विभाजन के तरफ बढ़ते भारत में तो कई विचारधाराएं जरूरी थीं, लेकिन अब समय और परिस्थिति बदल चुका है। अब युगानुकुल विचारधारा चाहिए। इसमें गांधी और कुमारस्वामी को शामिल करना होगा।

समकालीन भाजपा की असली समस्या विचारधारा नहीं बल्कि उसके वेतनभोगी नौकरों एवं दलालों का सलाहकार बन जाना तथा सांगठनिक और राजनीतिक नियुक्तियों में पारदर्शिता और सर्वसम्मति का अभाव है। भाजपा में नया सांगठनिक एवं चुनावी राजनीतिक ढ़ांचा खड़ा किए बिना काम नहीं चलेगा। आडवानी के रहनुमाई में भाजपा पिछले 20 साल से देश को यह नहीं समझा पाई कि वह किस तरह का हिन्दुत्व चाहती है। पार्टी 11 दिसंबर , 1995 के सुप्रीम कोर्ट की हिन्दुत्व की व्याख्या में ही विश्वास रखती है। मोहन भागवत भाजपा को लोकतांत्रिक ढ़ंग से खड़ा करने के पक्ष में हैं। लेकिन केवल लोकतांत्रिक होने से काम नहीं चलेगा। संघ को हिन्दुत्व का युगानुकूल परन्तु सनातनी अर्थ समझना होगा। उसे अपनी आस्था एवं विश्वास से भारतीय परम्परा के ऐतिहासिक गहराईयों को स्वीकारना पड़ेगा। उसे 1925, 1947, 1992, 2002 की धटनाओं का अतिक्रमण करके सनातन हिन्दू धर्म के स्वरूप को समझना – समझाना होगा। वर्ना भारतीय समाज के केन्द्र में संघ और भारतीय राजनीति के केन्द्र में भाजपा का आना सपना ही रहेगा। अब 1998–1999 वाली

स्थिति न देश में है और न दुनिया में। अब परिस्थिति में गुणात्मक परिवर्तन हो चुका है। परन्तु हिन्दुत्व का महत्व लगातार बढ़ता जा रहा है।

हिन्दू धर्म सृष्टि के साथ तादात्म्य पर बल देने वाला धर्म है। उसके समस्त अनुष्ठान इस तादात्म्य के लिए साधन हैं। यज्ञ और उपासना उसके बाह्य और अभ्यांतर पक्ष हैं। यज्ञ में ही समाज की संहत इकाई के दर्शन होते थे। इस यज्ञ का विकास ब्रह्म के साक्षात्कार में हुआ। यज्ञ ब्रह्म का प्रतीकात्मक रूप है। समूची सृष्टि की भावना यज्ञ के रूप में हुई। यज्ञ जैसे ममत्व का त्याग है, वैसे ही सृष्टि भी स्रष्टा के ममत्व का त्याग है। पूरा चराचर जगत यज्ञ है। संवत्सर भी यज्ञ है। समस्त प्रकार का सर्जनात्मक व्यापार यज्ञ है। यज्ञ केवल बाह्य अनुष्ठान नहीं है। इसमें मंत्रों का प्रयोग होता है। मंत्र मनन के साधन हैं। मंत्र के द्वारा जो उपस्थिति भावित होता है, वही उपस्थिति यज्ञ के लिए वास्तविक उपस्थिति है। यज्ञ व्यक्त और अव्यक्त यानि अग्नि और सोम का संयोजन है। यह प्रकाश और अप्रकाश का, आत्मा और अनात्मा का, देव और मनुष्य का संयोजक संकल्प भी है। यज्ञ में यजमान स्वयं अपने को अर्पित करता है। विभिन्न प्रतीकात्मक अनुष्ठानों के द्वारा यह अर्पण सम्पन्न होता है। हिन्दु समाज में व्रत, पर्व एवं तीर्थ का बहुत महत्व है। पर्व एवं व्रत प्रवाही काल का साक्षात्कार है। तीर्थ प्रवहवान् देश का साक्षात्कार है। हिन्दुओं में होली सबसे महत्वपूर्ण पर्व है।

होली का पर्व प्राचीनकाल के तीन दिनों के मदनोत्सव का परिवर्धित रूप है। यह रंग का त्योहार है। गीतों का त्योहार है। यह ऋतुराज बंसत के आगमन में उनके अनुकूल अपने को ढ़ालने का त्योहार है। नववर्ष के आरंभ के पूर्व अनेक देशों में एक प्रकार का उन्माद भाव , उन्मुक्त भाव छा जाता है। हिन्दुस्तान का बंसत काफी लंबा होता है। हर पेड़ का बंसत अलग होता है। पर सबसे पहले आम ही बंसत के आगमन का संकेत अपनी मंजरी की गंध से और उस गंध से आकृष्ट कोकिल की कूक से देता है। लगभग पूरा फाल्गुन उल्लास का महीना होता है।

होली वस्तुतः वर्ष या संवत्सर का दाह है, उसकी चिता की भस्मी रमाकर नये वर्ष के अभिनन्दन की तैयारी है। इसमें समस्त ऐन्द्रिय भोग का रेचन है। होली में सामाजिक मंगल को अपने में भरने का प्रयास है।

प्रासंगिक बनने और राजनैतिक सफलता पाने के लिए संघ परिवार को भी हिंदुत्व की होली खेलने की आदत डालनी चाहिए। तभी भाजपा नए भारत का अभिनंदन कर पायेगा। तभी नया भारत भाजपा को अपनायेगा।

हिन्दू जीवन – दर्शन की तीन मूलभूत स्थापनाएं हैं –

1. पुनर्जन्म,
2. कर्मवाद तथा
3. ऋणों की अवधारणा।

1. पहली स्थापना जीवन की निरन्तरता और समग्रता के बारे में है। जन्मान्तरवाद और पिण्ड – ब्रहमाण्ड के अद्वैत इस स्थापना के ही विकास क्रम में आते हैं। जीवन की निरन्तरता का अर्थ केवल स्थूल शरीर या वंशानुक्रम के रूप में संक्रान्त संस्कार तक ही सीमित नहीं है, वह और सूक्ष्मतर शरीर की अविच्छिन्नता की अवधारणा है। पुनर्जन्म का सिद्धांत .भारतीय चिन्तन के प्रारंभ में उतना विकसित नहीं था। इसका विकास सांख्य – योग की दर्शन प्रणाली के विकास के बाद हुआ।

वैदिक संस्कृति के निर्माताओं की दो धाराएं रही हैं। ये निर्माता किसी एक रक्त या प्रजाति के नहीं हैं। पहली धारा अत्यन्त सरल यज्ञ–पद्धति के द्वारा मनुष्य के भीतर देवत्व को उद्बोधित करके व्यक्ति के रूप में मनुष्य को शक्ति देती है और इस जगाने के अनुष्ठान की समवेत संरचना के द्वारा सामाजिक अस्मिता की संस्थापना करती है। पहली धारा ने ही देवता के उद्बोधक मन्त्र को यज्ञ का मुख्य आधार बनाकर मन्त्र और यज्ञ, दोनों के चिन्तन से संग्रथित बौद्धिक परम्परा का विकास किया।

दूसरी धारा अधिक ओजस्विनी रही है और वह बाहरी अनुष्ठान की अपेक्षा आंतरिक अनुशासन के द्वारा मनुष्य के शक्ति–संचय का रहस्य उद्घाटित करती है। इस धारा के साथ स्वाभाविक रूप से इसका एक तांत्रिक पक्ष भी रहा है जो पुष्टि – कर्म के साथ–साथ शान्ति–कर्म के लिए भी प्रेरणा देती रही

है। अथर्ववेद संहिता पर इसकी गहरी छाप है। सांख्य और योग का चिन्तन निश्चय ही इसी दूसरी धारा से आया जो समूहों में आने के कारण व्रात्य कहलाये।

जहाँ पहली विचारधारा की बाह्य दृष्टि, बाह्य रूपसम्भार को अर्थ देती है, अपने भीतर के अन्तः स्फूर्त शब्द को बाहर फैले हुए प्रकाश से जोड़कर मनुष्य को पूरे विश्व के साथ समताल बनाती है, वहाँ दूसरी धारा आन्तरिक अनुशासन के द्वारा अपने भीतर उसी मन्त्र की शक्ति के अन्तर्वर्तित रूप के द्वारा समस्त ब्रहमाण्ड को पिण्ड से अवस्थापित करके मनुष्य के नश्वर शरीर को सार्थकता देती है। पहली धारा का योगदान है, जीवन की निरन्तरता।

हिन्दू जीवन दर्शन विशेष रूप से किसी सीधी राह की बात नहीं सोचता, वह जीवन की जटिलताओं को अच्छी तरह ध्यान में रखते हुए ही लम्बी और घुमावदार राह की परिकल्पना करता है। हिन्दू धर्म में गुरू की कल्पना परित्राता के रूप में नहीं है, नेत्र – उन्मीलक के रूप में है, वह राह चलना नहीं सिखाता, राह पहचानना सिखाता है, चलना तो आदमी को स्वयं होता है। रामकृष्ण परमहंस, महात्मा गांधी और आनन्द कुमारस्वामी इसी किस्म के हिन्दू गुरू हैं जिनकी सिखावन आज भी प्रासंगिक है।

हिन्दू जीवन – दर्शन में बाह्य आचार और आन्तरिक चित्तशुद्धि में अविभाज्य संबंध है। यह उसी प्रकार का संबंध है जिस प्रकार बाह्य विश्व और मनुष्य के भीतर के विश्व में

संबंध है। हिन्दू जीवन–दर्शन शीघ्र फल की कामना नहीं करता। अभ्यास और नियमित अभ्यास से मनुष्य के सूक्ष्म शरीर पर पड़ने वाले संस्कार हिन्दू जीवन– दर्शन बहुत महत्व रखते हैं। भक्तिमार्ग में सेवा और परहित की बात आवश्यक बतायी गयी है। जब तक भक्त सामान्य से सामान्य प्राणी में, तुच्छ से तुच्छ वस्तु में ईश्वर को नहीं देख सकता, जब तक इन सब की आवश्यकता को ईश्वरीय आवश्यकता नहीं समझ सकता, तब तक भक्त का सर्मपण पूरा नहीं होता और तब तक उसकी भक्ति की नींव नहीं पड़ती। इस प्रकार भक्ति भी एकाएक नहीं उद्भूत होती, वह भी अभ्यास से ही आती है।

यदि हिन्दू लोग पेड़ में, पौधे में, नदी में, पत्थर में, हवा में, बादल में, प्राणवत्ता देखते हैं और अपने काव्य, अपनी कला और अपने शिल्प में समस्त प्राणवान् वस्तुओं में एक लयबद्ध स्पन्दन देखने की कोशिश करते हैं, और भूमिकाओं के विनिमय की बात सोचते हैं तो पत्थर की मूर्ति में प्राण आ जाता है और प्राणवान् आदमी पत्थर हो जाता है, प्रकृति सहचरी बनती है और सहचरी प्रकृति में छा जाती है। जीवन की निरन्तरता केवल काल में ही नहीं, देश में भी है।

2. *हिन्दू जीवन* – दर्शन कर्म का त्रिविध विभाजन करता है–प्रारब्ध, संचित और क्रियमाण। प्रारब्ध का भोग करना पड़ता है, संचित और क्रियमाण का भोग नियत रूप में नहीं करना पड़ता। आदमी चाहे तो अपने कठोर संकल्प के द्वारा ऐसा अभ्यास कर सकता है कि संचित और क्रियावान कर्म ही

प्रारब्ध का भोग कराते हुए भी जीवन क्रम को संचित की अपेक्षा से मुक्त कर लेता है और इसलिए वह पूर्वनियत फल की धारा को मोड़ भी देता है। इस अर्थ में वह प्रारब्ध से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। क्रियावान कर्म यदि ठीक तरह अनुवर्तित किया गया तो वह न केवल प्रारब्ध को भोगने के लिए भीतर से शक्ति और विश्वास देता है, बल्कि प्रारब्ध के भोग की अवधि को भी इस माने में कम कर सकता है कि कालावधि का अनुभव ही कम योग पूर्वक क्रियावान कर्म के द्वारा संकुचित या विस्तृत किया जा सकता है। हिन्दू जीवन– दर्शन काल की किसी निरपेक्ष इकाई को नहीं स्वीकार करता। प्रत्येक व्यक्ति का स्वकर्म और स्वधर्म उसकी अपनी निजी क्षमता और परिस्थिति से निरूपित होता है। उसी कर्म को वह जब इस प्रकार करता है कि अपने लिए नहीं, बल्कि सर्वात्मा के लिए है तो वह सिद्धि प्राप्त कर लेता है। कोई भी कर्म अपने आप में छोटा–बड़ा नहीं, उसके अनुष्ठान का संकल्प और उस अनुष्ठान के पीछे निहित भावना से ही वह छोटा या बड़ा होता है।

3. ऋण मुक्ति की व्यवस्था हिन्दू धर्म को विशिष्टता प्रदान करती है। यह व्यवस्था वर्णों और आश्रमों के बीच में एक कड़ी का काम करती है। हिन्दू धर्म में चार ऋणों की परिकल्पना है

क. ऋषि ऋण

ख. पितृ ऋण

ग. देव ऋण

घ. भूत ऋण

ऋषि ऋण ब्रहमचर्य आश्रम और ब्राहमण के धर्म – स्वाध्याय से उतरता है। पितृ ऋण गृहस्थ आश्रम और क्षत्रिय के सर्वपालक कार्य से उतरता है। देव ऋण बानप्रस्थ आश्रम और विनियम – प्रधान वैश्य के कार्य से उतरता है। देवता की उपासना में एक – दूसरे को उपकृत करने की भावना रहती है। यज्ञ और उपासना के द्वारा मनुष्य देवता को भावित करता है उसी के द्वारा देवता भी मनुष्य को भावित करते हैं।

चौथे वर्ण, चौथे आश्रम और चौथे ऋण की परिकल्पना एक उत्तरवर्ती विकास है। तीन को अतिक्रमण करने वाले वर्ण, आश्रम और ऋण की अवधारणा वैदिक यज्ञ – संस्था के पूर्ण विकास के अनन्तर हुई। वर्णों में शूद्र को स्थान, आश्रमों में संन्यास को स्थान और ऋणों में भूत ऋण या मनुष्य ऋण को स्थान देना एक सर्वग्राही व्यापक और आध्यात्मिक चिन्तन के उत्कर्ष के परिणामस्वरूप हुआ। भूत ऋण या मनुष्य ऋण केवल अपने पिता का ऋण नही, केवल अपने देवता का ऋण नहीं, केवल अपनी ज्ञान – परम्परा का ऋण नहीं, बल्कि समस्त मनुष्य जाति और समस्त प्राणियों का ऋण है। उससे निस्तार पाने के लिए आदमी को निर्वर्ण हो जाना पड़ता है तथा उसे अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विलय कर देना पड़ता है– वह एक प्रकार से शूद्र हो जाता है और उसका जीवन केवल दूसरों के लिए ही शेष रह जाता है तभी वह परब्रहम के साथ

जुड़ जाता है। इस प्रकार सनातन धर्म में सारा जीवन ऋणों से निस्तार पाने का प्रयत्न है और इसका अन्तिम भाव सेवाधर्म के द्वारा मनुष्य ऋण से विस्तार के लिए सुरक्षित है। महात्मा गांधी का हिन्द – स्वराज इसी सनातन धर्म को समकालीन बनाने की प्रस्तावना है। सर्वोदय या सर्वव्यापी न्याय को दायित्व या ऋण से जोड़ने का महात्मा गांधी का यह प्रयास समता से भी अधिक गहरी एक नैतिक सम्पर्कता का आधार उपस्थित करता है। समकालीन समय में किस अवस्था में किस प्रकार के स्वभाव वाले व्यक्ति का क्या सामाजिक दायित्व है – यह परिभाषित करना महात्मा गांधी और कुमारस्वामी का प्रयास रहा है। इस परिभाषा या 'इथिक (नीति)' के बिना सामाजिक न्याय की कल्पना अधूरी रह जायेगी। हिन्दू जीवन – दर्शन को सही तरह समझने में जहाँ एक ओर पश्चिमी जीवन – दर्शन के प्रभाव के कारण बाधा उत्पन्न हुई है, वहीं निर्गुण भक्ति साहित्य के प्रभाव में अत्यन्त अन्तर्मुखी हो जाने के कारण अपने परिवेश, समाज एवं संसार को देखने की खुली दृ ष्टि का अभाव आ गया है। फलतः हिन्दू जीवन – दर्शन के व्यवहार और सिद्धांत में बहुत अन्तर आ गया है। इसी से हिन्दू समाज के अंग्रेजीदां लोग कोरे काम चलाऊ शब्दों से अपनी सांस्कृतिक अस्मिता को परिभाषित करने लगे हैं। इससे किसी का कल्याण नहीं हो सकता। हिन्दुत्व में जिनकी अब भी आस्था है उन्हें उपरोक्त मुद्दों पर विचार करना चाहिए।

सनातन भारतीय समाज का मूल तत्वः अग्नि और सोम

अपनी हर कमी के बावजूद भारतीय समाज और इसकी अधिकांश संस्थाएं तुलनात्मक रूप से बेहतर स्थिति में हैं। आधुनिक प्रजातांत्रिक व्यवस्था, मिश्रित अर्थव्यवस्था का नव उदारवादी स्वरूप, परिवार और नातेदारी की लचीली व्यवस्था, धार्मिक जीवन की भक्ति केन्द्रित अंतर्धारा, खेल और सिनेमा का मनोरंजक संसार, जिज्ञासा और खोज की आम आदमी में ज्ञान–पिपासा भारत को समकालीन समाज व्यवस्थाओं में विशिष्ट बनाती है। पाकिस्तान, अफगानिस्तान और बंगला देश या नेपाल से भारत की तुलना करना भारतीय मेधा के साथ अन्याय है। भारत की तुलना चीन, रूस, ब्राजील, दक्षिण अफ्रीका, यूरोपीय संघ और अमेरिका से ही हो सकती है। परन्तु भारत जैसी विविधता में एकता, निराशजनक स्थिति में भी आनंद के खोजी लोग, बदहवासी में भी जिन्दगी का उत्सवनुमा स्वरूप अपने आप में भारत को एक अद्वितीय सभ्यता बनाता है। वास्तव में भारत में जन्म लेना एक सौभाग्य की बात है। प्रकृति और नियति ने भारत को छः ऋतुएं प्रदान की हैं। सुरम्य वादियों के साथ रेगिस्तानी इलाका भी दी है। यहां एक साथ बाढ़ और सूखा दोनों देखने को मिलता है। यह महज संयोग नहीं है कि बाढ़–प्रभावी इलाका में शिव–पूजकों की संख्या सर्वाधिक है और सूखा प्रभावित इलाके में

विष्णु–पूजकों की संख्या सर्वाधिक है। देश के सबसे समृद्ध इलाके वे हैं जहां शैव और वैष्णव जनसंख्या बराबर संख्या में है।

दरअसल यह संसार अग्नि और सोम से बना है। सोम जल तत्व है। शिव सोमेश्वर हैं। विष्णु अग्निवाचक हैं। इस्लाम में भी सोम तत्व की ही साधना की जाती है। ईसाई लोग मूलतः अग्नि तत्व की साधना करते हैं। यहूदी लोग सोम तत्व की साधना करते हैं। जोरास्ट्रियन पारसी लोग अग्नि तत्व की साधना करते हैं। बौद्ध लोग मध्यमार्गी हैं। स्थविरवादी बौद्ध लोगों की साधना में अग्नि तत्व प्रमुख है तो बौद्ध वज्रयानियों में सोमतत्व प्रमुख हैं। भारत में उपरोक्त सभी धर्मों के अलावे भी बहुत सारे मत–सम्प्रदाय हैं जो क्रमशः अग्नि या सोम तत्व की आराधना करते हैं। भारतीय सभ्यता को इस अर्थ में भी सनातन सभ्यता कहा जाता है क्योंकि अग्नि– सोम की साधना इस सभ्यता में सनातन काल से अनवरत चल रही है। जो भारत में है वह संसार में अन्यत्र इसी स्वरूप में कहीं नहीं है। अग्नि और सोम के बीच संतुलन बैठाने की भारतीय सभ्यता में जितना प्रयोग हुआ है उतना अन्यत्र देखने को नहीं मिलता। जब स्थविरवादी बौद्धों ने इस देश में अग्नि तत्व के प्रभाव में निवृति मार्ग को प्रमुख बना दिया तो सोम तत्व को संतुलित करने के लिए इस्लाम का प्रादुर्भाव हुआ। जब इस्लाम के प्रभाव में सोम तत्व ने प्रवृति मार्ग का प्रभुत्व बनाया तो अग्नि तत्व को संतुलित करने के लिए ईसाई लोग आए। स्वतंत्रता

स्रंगाम में भी अग्नि+सोम का संतुलन साधा जाता रहा। महात्मा गांधी वैष्णव थे तो जवाहरलाल नेहरू काश्मीर शैवागम के प्रतिनिधि। गांधी जी अग्नि तत्व और निवृति मार्ग के पथिक थे तो जवाहरलाल नेहरू सोम तत्व और प्रवृति मार्ग के पथिक थे। जब तक अग्नि – सोम के बीच संतुलन सधता रहेगा एक सनातन सभ्यता के रूप में भारत का भविष्य उज्जवल बना रहेगा।

कला और धर्म

श्रेष्ठ कलाकृतियां हमारी श्रेष्ठतम अनुभूतियों पर प्रस्तुत स्वर–संगति में प्रस्तुत नाद ब्रह्म की अनुकृति होती है। कलाकृति के सम्मोहन संस्पर्श से हमारे हृदय के सुप्त भावों और संवेदनों के तार झंकृत हो उठते हैं। कलाकृति से संसर्ग की प्रतिक्रिया स्वरूप हम अंतरतम से आंदोलित होकर जागृत हो उठते हैं। हम अनकहे को सुनने लगते हैं। अप्रस्तुत को देखने लगते हैं। रचनाकार ने जो महसूस किया था उसे हम अपने हृदय में महसूस करने लगते हैं। रचना के आह्वान पर भूली–बिसरी पुरानी स्मृतियां हमारे सामने अर्थवत्ता लेकर जागृत हो उठती हैं, भय और लालसाओं द्वारा दबा दी गई वे आशाएं, जिन्हें पहचानने की हिम्मत हममें नहीं होती, नए गौरव के साथ सामने उठ खड़ी होती हैं। हमारा मन वह कैनवास है,

जिस पर कलाकार–रचनाकार अपने रंगों से चित्र अंकित करते हैं। हमारे संवाद उनके रंग हैं।

कला में समानधर्मी हृदयों के मिलन से अधिक श्रेष्ठ क्षण दूसरा नहीं होता। इस मिलन के क्षण में कला प्रेमी अपने 'स्व' को पार कर जाता है। अनंत की, अजीम की झलक पा लेता है। इस क्षण में उसकी आनंदानुभूति को शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता। कला धर्म की तरह मानवता का उदात्तीकरण करने लगती है। कलाकृति हमारे लिए उसी हद तक मूल्यवान होती है, जिस हद तक वह हमसे संवाद करती है। हमारी अपनी व्यक्तिकता भी एक हद तक हमारी समझ की सीमा होती है। अंततोगत्वा हम संसार में अपना प्रतिबिंब हीं देखते हैं।

इस्लाम – रामकृष्ण परमहंस, विवेकानंद, गांधी, विनोबा और ओशो रजनीश ने इस्लाम को भी मुक्ति का एक पथ माना है। मूलतः यह भक्ति या प्रेम मार्ग है। कुछ हद तक इसे कर्म मार्ग भी कह सकते हैं। इस्लाम ज्ञान मार्ग नहीं है।

इस्लाम की हिन्दू समाज की विशिष्टता इसके ग्रामीण समुदाय की तुलनात्मक स्वायत्ता में अभिव्यक्ति हुई है, ठीक उसी प्रकार इस्लाम की विशिष्टता इसका **Art and Craft** रहा है। **The best of Islam has been Expressed and Represented in Art and Craft-** इस्लाम की विशिष्टता उसकी कला एवं शिल्प में अभिव्यक्त हुई है .उसी तरह **West** की विशिष्टता **Science and Technology** एवं

Management में अभिव्यक्त हुई है। **State&craft and Politics Economy** में अभिव्यक्त हुई है। मघ्यकाल में **catholic** प्रभाव में **Art and Craft** के तरफ झुकाव हुआ था।

इस्लाम की आलोचना उसके **Externalities** को ध्यान में रखकर की गई है। **Orientalism** के तहत मूलतः इस्लामिक सामंतवाद एवं भोगवाद की आलोचना की गई थी। जिस तरह भारत की जाति व्यवस्था और छुआ–छूत, विधवा आश्रम, आदि की आलोचना की गई थी।

हर समाज में बुरे लोग रहते हैं। हर समाज में प्रभु वर्ग विलासी होता है। हर समाज कुछ हद तक अपने प्रभु वर्ग का नियमन करना चाहता हे। यथार्थ में न सही, साहित्य और कला में अपने अन्यायी और अत्याचारी प्रभु वर्ग की कड़ी आलोचना करता है। अपने न्याय प्रिय और संयमशील शासकों को आदरांजली देता है। लेकिन जब राज्य का शासक धर्म का भी शासक बन जाता है तो आम जनता के सामने यथार्थ में सीमित विकल्प बचते हैं। धर्म का शासक जब राजनीति में अपना हित साधने लगता है तब भी यही होता है।

आम मुसलमान अपने बच्चों के स्वास्थ्य या शिक्षा के बारे में बहुत चिंतित नहीं रहता है। उसको लगता है कि अल्लाह सब ठीक करेंगे। वह फैमिली प्लानिंग के कृत्रिम नक्शे नहीं आजमाता। उसके यहां ब्रहमचर्य पर भी जोर नहीं है। वह अपने सनातन धर्म पर आज भी अडिग है। उसे नहीं लगता

कि उसके धर्म में परिवर्तन आवश्यक है। उसको नहीं लगता कि दुनिया गुणात्मक रूप से बदल गई है।

आधुनिक दृष्टि से यह चाहे जितना अग्राह्य लगता हो परंतु भारत की पारंपरिक दृष्टि से इसमें क्या गलत है? सिवाय इसके कि वह अन्य धर्मों के प्रति असहिष्णु है। परन्तु यह असहिष्णुता तो पारंपरिक ईसायत, आधुनिक पूंजीवाद और मार्क्सवादी साम्यवाद में भी पाया जाता है। इसमें नया क्या है? यह तो आधुनिक हिन्दू सम्प्रदायों में भी आ गया है।

हिन्दू व्यवस्था सिद्धांत दुनिया की सर्वश्रेष्ठ व्यवस्था रही है। लेकिन पिछले 800वर्षों से लगातार विपरीत परिस्थितियाँ झेलते–झेलते हमारा व्यावहारिक ताना – बाना जर्जर हो गया है। अंग्रेजी राज तक हमारे बीच अपने आदर्श के लिए मर – मिटने वालों की संख्या निर्णायक थी। अब अवसरवादी लुटेरों की संख्या कम से कम सार्वजनिक जीवन में निर्णायक हो गई है। आम आदमी अपनी सुविधाभर अपने आदर्श पर अब भी चलने की कोशिश करता है लेकिन दबाव बढ़ने पर वह भी समझौता वादी हो जाता है। हिन्दुओं की नई पीढ़ी आधुनिकता की गिरफ़्त में आ चुकी है। इनका लक्ष्य हर हालत में पैसा कमाना और शार्टकट से सफलता प्राप्त करना हो गया है। यह हिन्दु संस्थाओं की आंतरिक कमजोरी के कारण हुआ है। नई पीढ़ी नाम के लिए हिन्दु है परंतु उसके जीवन की प्रेरणा काल्पनिकवादी है। या, लोकावादी है। साधन – शुचिता अब कोई मुद्दा नहीं रह गया है। खासकर सार्वजनिक जीवन में।

लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि ईश्वर अब महत्वपूर्ण नहीं रहे। इसका यह मतलब नहीं है कि सत्य, न्याय, मंगल, कल्याण या मोक्ष अब मात्र शब्द हैं। आधुनिक मनुष्य, आधुनिक तकनीक और आधुनिक व्यवस्था भी ईश्वरीय लीला का ही विस्तार है। इसका केवल इतना ही अर्थ है कि ईश्वरीय खेल का स्वरूप बदल गया है। ईश्वरीय खेल के नियम बदल गए हैं।

इसका केवल इतना ही मतलब है कि वर्तमान इतिहास के दौर में हिन्दू समाज एक समाज के रूप में अप्रासंगिक होता जा रहा है। हिन्दू समाज एक संक्रमण काल से गुजर रहा है। अभी विश्व इतिहास के निर्णायक खेल में इस्लाम ''ईश्वर'' का युद्ध लड़ रहा है और पूंजीवादी ईसाई सभ्यता 'शैतान' का युद्ध लड़ रहा है। इस निर्णायक लड़ाई में दोनों एक–दूसरे को लहु–लुहान करेंगे। दोनों पस्त हो जाएंगे। शायद तब प्रभु की प्रेरणा से हमारे समाज में नवचेतना आए।

अंग्रेजी राज में भारतीय मुसलमानों ने देवबंद में एक गुरूकुल बनाया था। यह एक अद्‌भुत प्रयास है। इसकी आज भी प्रासंगिकता है। गुरूकुल कांगड़ी, शांतिनिकेतन एवं बी. एच. यू अप्रासंगिक हो चुके हैं। विवेकानंदवादियों ने अपना नारा जमीन पर नहीं उतारा। शांतिनिकेतन ही उनकी नीतियों के अनुकुल था।

हिन्दुओं की समस्या यह है कि संस्कृत उर्दु की तरह लोक की भाषा नहीं है। बिना भाषा के वे करें तो क्या करें। ले

देकर सिनेमा ही संरक्षण–संवर्धन ने ज्यादा बड़ी भूमिका निभायी है। भाषाओं में विभक्त हिन्दू समाज अपनी संस्कृति के संरक्षण संवर्धन के लिए उपयुक्त शिक्षा का पाठयक्रम का विकास नहीं कर पाया है। यह देश सत्ता और सरकार से निरपेक्ष होकर आनंद में रहता है। प्रकृति ने भारत को अपने में आनंद से रत्त स्वायत्त ईकाई बनाया था जिसमें तीन तरफ से समुद्र और एक तरफ से पहाड़ था। यह तो हमने देश का बंटवारा हो जाने दिया। साथ ही तिब्बत चीन को दे दिया। वर्ना न हम किसी से लड़ते हैं न कोई हम से लड़ता।

नीति, धर्म एवं राजनीति

यदि नीति और धर्म के दायरे के बाहर राजनीति की चर्चा करनी हो तो सज्जनो को मौन धारण कर लेनी चाहिये। यह या तो भाग्य का मामला होता है या अनीति और अधर्म का। इस पर चर्चा करना फिजूल है। भाग्य और देशकाल के दायरे में संयम रखने से मौका मिलता है। राजनीति में सफल बने रहने के लिए संयम एवं धैर्य अति आवश्यक है। इस्लाम में पैगम्बर मुहम्मद और शुरुआती चार खलिफ़ाओं के बाद राजनीतिक नेतृत्व का आधार सैन्य सफलता एवं तिकड़म रहा है। यूरोप में भी राजनीतिक नेतृत्व का आधार सैन्य सफलता , तिकड़म एवं कूटनीति रही है। प्रभु वर्ग का समर्थन और सहयोग पाने के लिये अनीति एवं अधर्म का सहारा लेना

स्वाभाविक माना जाता रहा है। महात्मा गांधी के अनुसार ऐसे नेतृत्व को वैध नहीं माना जा सकता और जिस सभ्यता में ऐसे नेतृत्व को वैधता प्राप्त होती है वह सच्ची सभ्यता नहीं है। सच्ची सभ्यता में राजनीतिक नेतृत्व का आधार धर्म और नीति होती है। राजनीतिक नेतृत्व का दायित्व सामाजिक व्यवस्था, सामाजिक सुरक्षा एवं जन कल्याण करना होता है। दुर्भाग्य से हिन्दू सभ्यता में भी अब राजनीतिक नेतृत्व का आधार धर्म और नीति नहीं रहा। धार्मिक मानकों पर खरा उतरना अब आवश्यक नहीं माना जाता। नीति और नैतिकता की बात राजनीति में सामान्यतः नहीं किया जाता। आधुनिक बनने के चक्कर में राजनीति लूट–खसोट का जरिया हो गया है। अब लोग राजनीति में पैसा बनाने और अय्याशी करने के लिए आते हैं। भारतीय परम्परा में क्षात्र धर्म की सुविकसित अवधारणा रही है। अन्य पारम्परिक सभ्यताओं में भी राजनीतिक व्यक्ति के लिए उच्च आदर्शों का पालन करना जरुरी माना जाता रहा है। हर परम्परा में समाज का राजनीतिक नेतृत्व नैतिक प्रतिमानों पर नियंत्रित किया जाता रहा है। निरंकुश नेतृत्व पर नैतिक अंकुश स्थापित नहीं हो पाता तो समाज एवं साम्राज्य में विद्रोह, आंदोलन एवं संगठित असंतोष शुरू हो जाता है। केवल वही साम्राज्य इतिहास में लम्बे समय तक शासन कर पाता है जो धर्म और नीति के आधार पर सत्ता का सदुपयोग कर पाती है। आधुनिक युग में साध्य और साधन में कोई नैतिक संबंध होना जरूरी नहीं माना जाता। इसको फार्मल रेशनलिटी (औपचारिक विवेक) कहा जाता है।

आधुनिक सभ्यता औपचारिक विवेक और तर्क पर आधारित होता है। आधुनिक राजनीति में प्रजातांत्रिक पूंजीवाद सबसे लोकप्रिय स्वरूप है। इसमें हर व्यस्क नागरिक को मतदान का अधिकार होता है। एक निश्चित समय पर शासकों का चुनाव होता है। नागरिक बहुमत के आधार पर अपने शासक को चुनती है। हर चुनाव युद्ध की तरह लड़ा जाता है। सेना की जगह अब राजनीतिक दलों ने ले ली है। हर दल का नेता कबीलों के सरदार या सेनापति की तरह व्यवहार करता है। एक बार सत्ता में आ जने के बाद नेता लूट–खसोट, अय्याशी एवं विलासिता में डूब जाते हैं। सामाजिक व्यवस्था कायम करना, सामाजिक सुरक्षा सुनिश्चित करना, जन कल्याण करना भूल जाते हैं। पूंजीवादी प्रजातंत्र में राजनीति सत्ता, संपत्ति एवं सम्मान पाने का एक जरिया या माध्यम बन गया है। बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के दलाल राजनीतिक दलों को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करने लगे हैं। 5 साल में सांसद एवं विधायक करोड़पति से अरबपति बनने के लिए उद्यम में लग जाते हैं। हराम का पैसा आता है तो विलासिता एवं अय्याशी करना स्वाभाविक माना जाता है। सामाजिक सेवा, जन कल्याण एवं सामाजिक विकास के नाम पर बड़े–बड़े प्रोजेक्ट बनाये जाते हैं जिसमें करोड़ों रुपयों का बंदरबांट होता है। सामाजिक न्याय के नाम पर नए प्रभु वर्ग और वोट बैंक बनाए जाते हैं। मीडिया का जम कर दुरुपयोग होता है। पूँजीवादी प्रजातंत्र में इसका कोई उपाय नहीं है। पूँजीवाद लोभ पर आधारित आर्थिक एवं राजनीतिक व्यवस्था है। यह इस मान्यता पर आधारित है कि

मनुष्य स्वभाव से स्वार्थी, दुष्ट एवं शैतानी प्रवृत्ति का जीव होता है। थॉमस हॉब्स से लेकर चार्ल्स डार्विन तक पश्चिम में इस विचार को मानने वाले विचारकों की एक लंबी श्रृँखला है। ये लोग मानते हैं कि इस संसार में केवल सर्वश्रेष्ठ (फिटेस्ट) को जीवित रहने का अधिकार है। इस संसार में जीवित रहने के लिए संघर्ष करना पड़ता है। इस संघर्ष में केवल सर्वश्रेष्ठ सफल हो सकता है। व्यवहारिक रूप से किसी भी तरह सफलता प्राप्त करना पूँजीवादी प्रजातंत्र में सबसे महत्वपूर्ण मानक बन जाता है। इसके विपरीत पैगम्बर मुहम्मद, कार्ल मार्क्स एवं महात्मा गाँधी जैसे मनीषियों की विचारधारा है। इनके अनुसार यह संसार ज्यादा नैतिक, ज्यादा न्यायसंगत, ज्यादा कल्याणकारी एवं ज्यादा अहिंसक बनायी जा सकती है। मनुष्य स्वभाव से स्वार्थी, दुष्ट एवं शैतानी प्रवृत्ति का नहीं होता। वह परिस्थिति वश ऐसा बन सकता है लेकिन अनुकूल परिस्थिति में वह आत्म संतुष्ट, दयालु और दैवीय प्रवृत्ति का भी बन सकता है। सब कुछ सामाजिक व्यवस्था, शिक्षा एवं संस्कार पर निर्भर करता है। कुछ शब्दों में, सब कुछ धर्म एवं नीति या सत्य और अहिंसा पर निर्भर करता है। पैगम्बर मुहम्मद ने इसे मदीना के उम्मा (इस्लाम में आदर्श समुदाय) में चरितार्थ करने की कोशिश की थी। कार्ल मार्क्स ने इसे दास कैपिटल में चित्रित करने की कोशिश की थी। महात्मा गाँधी ने इसे हिन्द स्वराज और सर्वोदय में अंकित करने की कोशिश की थी। पैगम्बर मुहम्मद, कार्ल मार्क्स एवं महात्मा गाँधी ने राजनीति को धर्म एवं नीति के दायरे में नियंत्रित करने की

कोशिश की थी। इनके बीच नये संश्लेषण की आवश्यकता है। यह संभव भी है और जरूरी भी है। मानवता का कल्याण इसी में है। इसी से ज्यादा मंगलकारी सभ्यता बन सकती है।

अध्याय 5
पूजा पद्धति
हिन्दू पूजा का रहस्य

हिन्दू पूजा एक लयबद्ध साधना है। यह जीवन–संगीत का उत्सव है। श्रमण परम्परा के विपरीत वैदिक परम्परा क्रमबद्ध मुक्ति पर जोर देता है। यह श्रृंखलाबद्ध प्रवाही दृष्टि है। उपासना में गुरू के समीप बैठकर रहस्य में प्रवेश किया जाता है। अर्चा आकार की होती है। पूजा प्राणाविष्ट आकार की होती है। हिन्दू उपासना क्रमिक साधना है। यह धैर्यपूर्वक लंबे समय तक की जाती है। गुरू हमेशा कहते रहते हैं आत्मदीप बनो, अपने उद्धारकर्त्ता स्वयं बनो। हिन्दू मंदिर बाहर की बहुरंगी विविधता और गर्भगृह की निविड़ शांति और सघन एकरसता के द्वारा उस परम तत्व की दोहरी भाववत्ता का ही विग्रह है। हिन्दू मंदिर देवता का गृह–मात्र नहीं, स्वयं देवता है, चर–अचर सृष्टि की एक कलात्मक रचना है। हिन्दू उपासना का प्राणभूत तत्व आत्मशुद्धि द्वारा विश्वात्मा की व्यापकता का साक्षात्कार है। यज्ञ और योग के संयोग से हमारी उपासना– पद्धति विकसित हुई। कायशुद्धि, चित्तशुद्धि और वाक्शुद्धि उपासना के लिए आवश्यक है। यज्ञ सृष्टि के साथ तादात्म्य स्थापित करने का बाह्य प्रयास है। उपासना सृष्टि के साथ तादात्म्य स्थापित करने का आन्तरिक प्रयास है।

यज्ञ व्यक्त और अव्यक्त का संयोजन है। उपासना भी व्यक्त आत्मा और अव्यक्त परमात्मा का संयोजन है।

शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से मास का आरंभ होता है इसीलिए पूर्णिमा का तिथि अंक 15 है। मास का अंत अमावस्या को होता है इसीलिए अमावस्या का तिथि अंक 30 है। मासान्त का खाली होना या शुन्य होना, नये मास के भरने की प्रक्रिया का प्रारंभ है। शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा की कला को षोड़शी कला कहा जाता है। यह अस्ति (सत्ता, सत), भ्रांति (ज्ञान, चिम्) और प्रियं (सुखकर लगाना, आनंद) का नवसर्जन है। शैव सम्प्रदाय में यही कला शिव के मस्तक पर उनके ज्ञान चक्षु के ऊपर विराजती है। वैष्णव सम्प्रदाय में श्रीकृष्ण को षोडशकलाओं से पूर्ण अवतार इसी आधार पर कहा जाता है। सूर्य अमावस्या में चन्द्रमा को आत्मसात् कर लेते हैं। अमावस्या में सूर्य और चन्द्र का एकीकरण हो जाता है। यह दो प्रेमियों का एकीकरण है– अग्नि और सोम का, द्यौः और पृथ्वी का, बाड्. और मन का, व्यक्त और अव्यक्त का। अमावस्या में सोम अग्निमय हो जाता है और अग्नि सोममय हो जाता है। इसीलिए हिन्दू धर्म में प्रति अमावस्या और पूर्णिमा को दर्श पौर्णमास इष्टि का विधान रहा है।

इसके अलावे हिन्दू धर्म में पंचमहायज्ञ की व्यवस्था है। ये क्रमशः ब्रहमयज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ और मनुष्ययज्ञ कहलाते हैं। पढ़ना– पढ़ाना ब्रहमयज्ञ या ऋषियज्ञ है। इसके अन्तगर्त स्वाध्याय है, मन्त्रों और शास्त्रों का पारायण् है, एकाग्र

भाव से मन्त्रों के अर्थ का मनन और निदिध्यासन है। पितरों को तर्पण देना पितृयज्ञ है। पितृयज्ञ तात्पर्य है कि अपने दिन–प्रतिदिन के जीवन के अस्वाद में पितरों को संयुक्त करना और यह भावना करना कि जो भी हमें प्राप्त है, उसमें उनका योगदान है। पिता के तरफ से पांच या सात और माता के पक्ष से तीन या पांच पीढ़ियों के पितरों को तर्पण देने का विधान है।

देवताओं के निमित्त प्रातः और सायं दी गयी आहुतियों को देवयज्ञ कहते हैं। प्रत्येक आहुति के अन्त में स्वाहा और इंद देवाय न मम, कहकर 'अब यह मेरा नहीं' का भाव, ममत्व के त्याग का भाव भावित करना देवयज्ञ का लक्ष्य है।

भूत यज्ञ को बलिवैश्वदैव यज्ञ भी कहते हैं। अन्न–भोजन के पूर्व अन्न का कुछ भाग समस्त देवताओं और समस्त प्राणियों को अर्पित करना भूत यज्ञ है। इससे अपने स्वयं की अन्न की तृप्ति समस्त प्राणी लोक की तृप्ति बनती है।

मनुष्य यज्ञ को नृयज्ञ भी कहते हैं। इसे अतिथि–यज्ञ भी कहते हैं। जो भी मनुष्य अतिथि के रूप में दरवाजे पर आ जाये, वह देवता के समान पूज्य है। उसे खिलाये बिना स्वयं खाना पाप है। वह अतिथि वैश्वानर का रूप है उसे खिलाकर खाना मनुष्य यज्ञ है।

ऋतुओं के मोड़ के साथ यज्ञ को जोड़ने का अर्थ था यज्ञ को ऋत के रूप में देखना। नित्य किया जाने वाला

अग्निहोत्र नित्य यज्ञ और ऋतु चक्र के साथ या विशेष उद्देश्य या प्रयोजन से किया जाने वाला यज्ञ नैमित्तिक यज्ञ कहा जाता है। हिन्दू यज्ञ का उद्देश्य है यह अनुभव करना कि मेरे जीवन का प्रतिदिन एक आहुति है। यज्ञ के प्रतीकात्मक अनुष्ठान का चरम उत्कर्ष जप–यज्ञ में हुआ। अग्नि चयन–विद्या का जब विकास हुआ तो उसमें प्रतीक रूप में पुष्कर पर्ण पर हिरण्मय पुरूष के रूप में प्रजापति की स्थापना हुई और ईंटें शंक्वाकार स्तूप के रूप में चारों ओर लगायी गयी।

यज्ञ के अन्दर योग की उपासना एतनिर्हित थी। योग का मूल अर्थ है शरीर के रथ में इन्द्रियों के घोडों को जोतना। योगी की दृष्टि में यह शरीर आनन्द का एवं आनन्द रूप परमात्मा का विग्रह है। योग की इस धारा ने शरीर के भीतर ब्रहमाण्ड का दर्शन किया और इसने बाह्य अनुष्ठान बनाया। बाहयानुष्ठान के विकास, अग्नि चयन के रहस्य के अभ्यास और योग के विकास की परिणति ब्रहम और आत्मा की एकता की स्थापना में हुई। हिन्दू पूजा, यज्ञ उपासना और योग का लक्ष्य रहा है मनुष्य के दैवीय स्वरूप की स्थापना और अनुभूति प्राप्त करना।

शाक्त सम्प्रदाय में पूजा का रहस्य

किसी सम्प्रदाय में कर्मकाण्ड के अन्तगर्त पूजा, पाठ, अर्चना तथा ध्यान का विधान है। शाक्त सम्प्रदाय में पूजा रहस्य को समझना अति आवश्यक है। नाम–रूपात्मक जगत में सच्चिदानन्द की भावना ही अम्बा को पाना समर्पण है। सूक्ष्म जगत में ब्रहम भावना ही अर्घ्य समर्पण है। भावनाओं में ब्रहम भावना ही आचमन है। सर्वत्र सत्व आदि गुणों में चिदानन्द भावना ही स्नान है। चिद्रूपा कामेश्वरी में वृत्य विषयता का चिन्तन करना ही परिछन है। निरंजनत्व, अजरत्व, अशोकत्व, अमृत्व आदि की भावना ही विविध आभूषणों का अर्पण है। स्व–शरीर–घटक पार्थिव प्रपंच में चिन्मात्रा भावना ही गंध समर्पण है। आकाश में चिन्मात्रत्व की भावना करना पुष्प समर्पण है। वायु की चिन्मात्र भावना धूप समर्पण है। तेज् में चिन्मात्रत्व की भावना दीप समर्पण है। अमृत तत्व भावना नैवेद्य का अर्पण है। विश्व में सच्चिदानन्द भावना ही ताम्बूल समर्पण है। वाणियों का ब्रह्म में उपसंहार ही स्तुति है। वृत्ति विषय के जड़त्व का निराकरण आरती करना है। वृत्तियों को ब्रहम में लय करना ही प्रणाम है। देवी स्वयं ब्रह्म रूपिणी हैं। प्रकृति –पुरूष के मिलन से उत्पन्न हुआ जगत मुक्त ब्रह्म से ही आर्विभूत होता है। वेद–अवेद, विद्या–अविद्या, अजा–अनजा सब कुछ भगवती ही हैं। शक्ति के बिना सारा प्रपंच शव मात्र है। अशक्त व्यक्ति, अशक्त समाज, अशक्त जाति, अशक्त देश अपने आप में बेकार होता है। अतः शक्ति की पूजा स्वाभाविक है।

शक्ति माता भगवती है। भगवती परोरजा हैं। परोरजा का अर्थ है सृष्टि को उत्पन्न करने वाली परा रजः शक्ति। भगवती परम रज हैं। उन्ही से संसार, जगत और सृष्टि की उत्पत्ति होती है। उनकी पूजा आवश्यक है। उनकी पूजा से सफलता , सुंदरता, आनंद और मंगल की प्राप्ति होती है और विश्व का कल्याण होता है।

शाक्त सम्प्रदाय में मूर्ति रहस्य

प्रथम महालक्ष्मी भगवती ने सम्पूर्ण जगत् को अधिष्ठाता से रहित देखकर केवल तमोगुण रूप उपाधि का आश्रय लेकर महाकाली रूप धारण कर लिया। अनन्तर महालक्ष्मी ने अतिशुद्ध सत्व के द्वारा महाविद्या सरस्वती का रूप धारण कर लिया। रजोगुण के संयोग से महालक्ष्मी का रक्त–रूप धारण किया। प्रथम महालक्ष्मी भगवती साम्यावस्था भिमानिनी हैं। उनमें तीनों गुण सम अवस्था में हैं। भगवती ने ब्रहमा का सरस्वती से, रूद्र का गौरी से, वासुदेव का लक्ष्मी से विवाह कर दिया। ब्रहमा ने सरस्वती के साथ ब्रहमाण्ड बनाया, रूद्र ने गौरी के साथ संहार का काम किया और विष्णु ने लक्ष्मी के साथ पालन किया। ब्रहम दृष्टि से चैतन्यरूपा सरस्वती, सत्तारूपा लक्ष्मी, आनन्दरूपा काली हैं, अतः चैतन्य का अभिव्यंजक सत्व, सत्ताव्यंजक रज और आनंद व्यंजक तम है। सुषुप्ति में तम की बहुलता से आनंदमय की व्यक्ति होती है।

आनंद भोक्ता सत्व का पर्यवसान तमोरूपा निद्रा में होता है, इसलिए रूद्र में तम का व्यवहार होता है।

सत्ताव्यंजक रज का पर्यवसान सत्वात्मक ज्ञान में होता है, इसलिए विष्णु को सत्व कहा गया है। चैतन्यव्यंजक रज अपने रूप में रहता है, इसलिए ब्रहमा को रज कहा गया है। इतिहास की दृष्टि से पहले उत्पत्ति, फिर स्थिति, फिर संहार होता है। साधना में संहार, पालन, उत्पादन का क्रम मान्य होता है। स्थितिकाल में भी उन्नति के लिए तीनों शक्तियों की अपेक्षा है। दोषों का संहार, रक्षषीय गुणों का पालन और फिर अविद्यमान गुणों का उत्पादन साधना का लक्ष्य होता है। रोगों का नाश, प्राणों का रक्षक और बल का उत्पादन क्रमशः शिव, विष्णु और ब्रहमा का काम है।

शैव, वैष्णव, शाक्त सबके यहां अपने इष्टदेव को ही मूलतत्व माना जाता है। मूलतत्व में ही पूर्ण सर्वज्ञता आदि की विवक्षा से सत्वमय कहा जाता है। गुणकृत आवरण एवं तत् प्रभाव से रहित होने के कारण उसे ही निर्गुण् भी कहा जाता है। केवल शिव से संहार नहीं होता, शिव की शक्ति काली से संहार होता है। केवल प्रकाश से सृष्टि नहीं होती, इसलिए सरस्वती (सत्व) को रज के अधिष्ठाता ब्रहमा का सहारा लेना पड़ता है। रज से कार्य बनता चलता है, परन्तु यदि उसमें टिकाव नहीं हो, तो पालन कार्य नहीं हो सकता, अतः कार्य को टिकाऊ या स्थिर करने के लिए लक्ष्मी को तमोगुण के अधिष्ठाता विष्णु की अपेक्षा होती है। तम के प्राबल्य में अत्यंत

रूकावट होने पर पालन न होकर संहार होता है। परन्तु संहार में भी किसका, कब, कितने दिन तक संहार हो, इसके ज्ञान के लिए सत्व की अपेक्षा है, इसीलिए काली शिव का सहारा लेती हैं। अन्यथा ब्रहमा को रज, रूद्र को तम और विष्णु को सत्व का अधिष्ठाता कहा जाता है। ब्रहमा का रंग रक्त है, शिव शुक्ल और विष्णु कृष्ण हैं। सत्व गुण के कारण शिव शुक्ल और तमो गुण के कारण विष्णु कृष्ण हैं।

स्थिर रखना तम का कार्य है, अतः पालक में तम का परमापेक्ष है। अन्यत्र संहार होने से रूद्र में तम, पालक होने से विष्णु को सत्वमय कहा गया है। कहीं निराकर और अव्यक्त को आकाश के समान श्याम रंग का व्यंजक माना गया है। त्रिदेवियों की रूप व्यवस्था तो सर्वथा गुणों के अनुसार है। त्रिदेवों में उत्पादक को राजस, पालक को सात्विक और संहारक को तामस गुणों का नियंत्रक कहा गया है।

तामसी प्रकृति जगत् का उपादान है, फिर भी उसके भीतर राजस और सात्विक अंतः करणादि होते हैं। तमोलेशानु विद्ध सत्वप्रधान अविद्या में भी तमोरज आदि के तारतम्य से उत्कर्षापकर्ष होता है, वैसे ही विशुद्ध सत्वप्रधान विद्या या माया में भी सात्विक, राजस, तामस भेद होते हैं। उसी भेद से ब्रहमा, विष्णु आदि बनते हैं। यह ईश्वर कोटि है, इनकी उपाधिमाया है, वह विशुद्ध सत्वप्रधाना होती है, फिर भी उत्पादक में रज, पालक में सत्व और संहारक में तम का अंश रहता है।

रज की हलचल और सत्व की ज्ञानशक्ति ही सृष्टि कर सकती है, इसीलिए ब्रहमा की पत्नी सरस्वती से सृष्टि होती है। तम की रूकावट से और रज की हलचल से पालन होता है, अतएव विष्णु पत्नी लक्ष्मी से पालन होता है। सत्व के प्रकाश एवं तम के अवष्टम्भ से संहार होता है, अतः शिव पत्नी गौरी से संहार होता है।

शैव सम्प्रदाय में मूर्तिपूजा

मूर्तिपूजा में दृश्य से अदृश्य की पूजा होती है। जिस तरह वैष्णवों की दृष्टि में शालग्राम में विष्णु की भावना होती है। केवल काष्ठ, पाषाण, धातु की पूजा नहीं होती, बल्कि मन्त्र और विधानों की महिमा से आहूत संनिहित व्यापक देवतत्त्व ही मूर्ति में आराध्य होता हैं। व्यष्टि के द्वारा ही प्राणियों के मन में समष्टि भाव का आरोहण होता है। उसी तरह शैव सम्प्रदाय में व्यष्टि प्रजनन शक्तियों में व्याप्त शिवतत्त्व का समष्टिस्वरूप शिवलिंग है। समष्टि शिवमूर्ति की ही उपासना और प्रतिमा होती है। तम से ही सबका उद्भव और उसी में सबका लय होता है। तम को वश में रखकर उसके अधिष्ठाता शिव ही सर्वकारण हैं।

समस्त योनियों का समष्टि रूप प्रकृति है, वही शिव लिंग का पीठ या जलहरी है। योनि में प्रतिष्ठित लिंग आनन्दप्रधान, आनन्दमय होता है। अतएव प्रकृति विशिष्ट दृक्

रूप परमात्मा आनन्दमय कहलाता है। उसी की प्रतिकृति पाषाणमयी, धातुमयी, जलहरी और लिंगरूप में बनायी जाती है। श्रुतियों एवं पुराणों में आध्यात्मिक, आधिदैविक तत्वों का ही लौकिक भाषा में वर्णन किया जाता है। गोलोकधाम में एक पूर्णतम पुरूषोत्तम श्रीकृष्ण ने अकेले अरमन के कारण अपने आपको दो रूप में प्रकट किया – एक श्याम तेज, दूसरा गौर तेज। गौर तेज राधिका में श्यामल तेज कृष्ण से गर्भाधान होने पर महत्ता तत्वप्रधान हिरण्यगर्भ उत्पन्न हुए।

जागृत, स्वप्न के अभिमानी विश्व, तैजस और विराट्, हिरण्यगर्भ ये सभी सावयव हैं। किन्तु सर्व – लयाधिकरण ईश्वर निरवयव है, वह माया से आवृत्त होता है। अविद्या के भीतर ही रहने वाला तो जीव है, परन्तु जो अविद्या का अतिक्रमण कर स्थित है, वही ईश्वर है। निरावरण तत्व शिव है। ईश्वर भाव माया से आवृत और शिव भाव अनावृत है। माया जलहरी है और उसके भीतर आवृत ईश्वर है। जलहरी के बाहर निकला हुआ शिवलिंग निरावरण ईश्वर है। लिंग के मूल में ब्रह्मा, मध्य में विष्णु ऊपर प्रणवात्मक शकंर है। लिंग महेश्वर, अर्घा महादेवी हैं। अर्घा गोल नहीं, दीर्घ होता है। शिव के सम्बन्ध मात्र से प्रकृति स्वयं विकाररूप में प्रवाहित होती है। चैतन्य रूप लिंग सत्ता और प्रकृति से ही ब्रह्मांड बना। उनके सहारे ही वह लय की ओर जा सकेगा।

प्रणव में अकार शिवलिंग है, उकार जलहरी है, मकार शिवशक्ति का सम्मिलित रूप है। शिवब्रहम का स्थूल आकार

विराट ब्रह्मांड है, ब्रह्मांड आकार का ही शिवलिंग होता है। निर्गुण ब्रहम का बोधक होने से यही ब्रह्मांड लिंग है।

उकार से जलहरी, अकार से पिण्डी और मकार से त्रिगुणात्मक त्रिपुण्ड कहा गया है। सर्वरूप, पूर्ण एवं निराकार का आकार अण्ड के आकार का ही होता है। आत्मा से आकाश की उत्पत्ति है, यही निराकार का ज्ञापक लिंग उसका स्थूल शरीर है। पचंतत्वात्मिका प्रकृति उसकी पीठिका है। पहले कुछ भी नहीं था, केवल शिव थे। फिर सूर्य के समान परम तेजोमय (ज्योतिर्लिंग) अण्ड उत्पन्न हुआ। पचांत्क्षर उसका स्थूल रूप है। माघ कृष्ण चतुर्दशी महाशिवरात्रि के दिन कोटिसूर्य समान परम तेजोमय शिवलिंग का प्रादुर्भाव हुआ।

एक शिव ही ब्रहमस्वरूप होने से निष्कल हैं, दूसरे देव सभी रूपी होने से सकल कहे जाते हैं। शिव सकल और निष्कल दोनों ही हैं। अतः उनका निराकार लिंग और साकार स्वरूप दोनों ही पूज्य होते हैं। दूसरे देवता साक्षात् निष्कल ब्रहमरूप नहीं हैं, अतएव निराकार लिंगरूप में उनकी आराधना नहीं होती। शिवलिंग ही से समस्त विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और अंत में सबका उन्हीं में लय होता है। सब सृष्टि का आधार ही शिव लिंग है।

कूटस्थ एथाणु पर ब्रहम ही शिव हैं। स्थाणु (ठँठ) लिंगरूप में व्यक्त शिव है, अपर्णा जलहरी है। शुद्ध शिवतत्व त्रिगुणातीत है। त्रिमूर्ति के अंतर्गत शिव परम बीज, तमोगुण के नियामक हैं। सत्व के नियमन की अपेक्षा तम का नियमन बहुत

कठिन है। सर्वसंहारक तम है। शिव ही तम को वश में रखते हैं। अव्यक्त तत्व लिंग है। माया द्वारा एक ही परब्रह्म परमात्मा से ब्रह्मांडरूप लिंग का प्रादुर्भाव होता है। चौबीस प्रकृति – विकृति, पचीसवां पुरूष, छबीसवां ईश्वर यह सब कुछ लिंग ही है। उसी से ब्रहमा, विष्णु, रूद्र का आविर्भाव होता है। प्रकृति से सत्व, रज, तम इन तीन गुणों से त्रिकोण योनि बनती है। प्रकृति में स्थित निर्विकार बोधरूप शिव तत्व ही लिंग है। इसी को विश्व – तेजस – प्राज्ञ, विराट हिरण्यगर्भ – वैश्वानर, जाग्रत – स्वप्न – सुषुप्ति, वहक् – साम – यजु, परा – पश्यंति – मध्यमा आदि त्रिकोणपीठों में तुरीय, प्रणव, परा वाक् स्वरूप लिंगरूप में समझना चाहिए। ''अउम '' इस प्रणवात्मक त्रिकोण में अर्द्धमात्रास्वरूप लिंग है।

लिंग – भाग से ही समस्त विश्व की उत्पत्ति है। शंकर ने काम को जलाकर सृष्टि की बुद्धि से ही मैथुन द्वारा सृष्टि की है। सृष्टि से पहले ज्ञान और अर्थ (दृश्य) एकमेव हो रहे थे। दृश्य शक्ति के उद्भव बिना चिदात्मा भी अपने को असत् ही मानने लगता है। शिव ही शक्ति और शक्ति ही शिव हैं। इस द्वैत में अद्वैत तत्व अनुस्यूत है। योनि त्रिकोण है, केन्द्र या मध्य बिन्दु लिंग है।

इच्छा–ज्ञान–क्रिया = योनि = त्रिक

मूलाधार आदि षटचक्र भी योनि ही है। लिंग भी सर्वत्र भिन्न–भिन्न रूप में विराजमान है। योनि से अतीत होकर बिन्दु अव्यक्त और लिंग अलिंग हो जाता है कोई गुण, कर्म, द्रव्य

बिना योनि – लिंग के नहीं बन सकते। याज्ञिकों के यहां भी वेदी की स्त्री रूप में, कुण्ड की योनि रूप में उपासना होती है। आद्याशक्ति साढ़े तीन फेरे की कुण्डलिनी रूप है। वह शिवतत्व को अपने साढ़े तीन फेरे से वेष्टित किए हुए है। उसी शक्ति के संयोग से शिव अनन्त ब्रह्मांड का उत्पादनादि कार्य करते हैं। वही कुण्डलिनी योनि है। पृथ्वी पीठ और आकाश लिंग है।

योनि = दिव्य प्रकृति, लिंग = परम पुरूष बिन्दु देवी और नाद शिव है। समस्त पीठ अम्बामय है, लिंग चिन्मय है। संसार का मूल कारण महाचैतन्य है और लोक लिङ्.गात्मक है। ब्रह्मांड की आकृति ही शिवलिंग है। शिव स्वयं अलिंग हैं, उनसे लिंग की उत्पत्ति होती हैं शिव लिंगी और शिवा लिंग हैं। रूद्र एक मात्र स्वामी, अतीन्द्रियार्थ ज्ञानी और हिरण्यगर्भ को उत्पन्न करने वाले हैं। वे अग्नि में, जल में, औषधि एवं वनस्पतियों में रहते हैं। वे सबका निर्माता हैं। रूद्र से भिन्न दूसरा तत्व ही नहीं है।

तम को ही सबका आदि और कारण कहा गया है। उसी में वैषम्य होने से सत्व, रज का उद्भव होता है। भगवान तम के नियंता हैं, वे तामस नहीं हैं। शिव से भिन्न जो कुछ भी है, उन सबके संहारक शिव हैं। इसीलिए विष्णु को उनका स्वरूप ही माना जाता है। भगवान् रस स्वरूप हैं। भगवान से ही समस्त विश्व को आनंद प्राप्त होता है।

नटराज और वैदिक यज्ञ

नटराज–यज्ञ रूप है। सनातन यज्ञ के बिम्ब हैं। नटराज सूर्य हैं। उनकी किरणें सनातन नृत्य करते रहती हैं। अग्नि यानि अंगार यानि आग की लपटें यानि प्रकाश यानि सूर्य। सोम यानि जल यानि बर्फ यानि–बीज रूप यानि चन्द्र। अग्नि–सोम के मध्य में अत्रि प्राण है। इसकी खोज अत्रि ऋषि ने की थी। उनकी पत्नी अनुसूया थी। अंगार से अंगीरा शब्द बना है। अंगार और भृगु ऋषि हैं। भृगु सोम के एक रूप हैं।

राम, कृष्ण, विष्णु, शिव की उपासना शुद्ध ब्रहम ही की उपासना है। किसी भी वस्तु में चित्त को एकागत करने से मूल परमात्मपद की ही प्राप्ति होती है। एक शुद्ध ब्रहमतत्व ही माया के सम्बन्ध से अव्यक्त ब्रहम और सूक्ष्म प्रपंच उपाधि से उपधित होने पर हिरण्यगर्भ एवं स्थूल प्रपंच से उपहित होकर वही विराद् कहलाता है। स्थूल का चिन्तन करते करते सूक्ष्म का और फिर उसका चिन्तन करते करते कारण का, फिर कार्य्यकारणातीत शुद्ध ब्रहम का बोध (साक्षात्कार) होता है। मानस जप में मन को ही मानस मन्त्र बनना पड़ता है। इस मानस जप और ध्यान से मन की शुद्धि, एकाग्रत, भगवान के वास्तविक स्वरूप की प्राप्ति बड़ी ही सुविधा के साथ हो जाती है। परमात्मा के संकल्प से ही अन्नतकोटि ब्रहमाण्ड बनकर तैयार होता है। किसी भी कार्य के मूल में संकल्प का होना आवश्यक है। संसार की सभी गति अथवा उन्नति का मूल

संकल्प ही है। परमात्मा किसी भी सामग्री की अपेक्षा न करके मात्र अपने संकल्प मात्र से विश्व का उत्पादन, पालन और संहार करता है। वही इसके उत्पादन हैं, वही निमित्त भी हैं। भगवान की सभी शक्तियां जीवात्मा में होती हैं। माया की शक्तियां मन में रहती हैं। अतः जीवात्मा अपने संकल्पों–विचारों से बहुत कुछ कर सकता है। अत्याचार, अनाचार, पापाचार, व्यभिचार आदि से संकल्प की शक्तियां दृढ़ हो जाती हैं। परमेश्वर की आराधना से जीवात्मा में स्वाभाविक परमात्मा संबंधी ऐश्वर्य प्रकट होते हैं, अन्यथा छिपे रहते हैं। सिद्ध लोग अपने संकल्प से ही घट को पट और पट को घट बना सकते हैं। विश्वामित्र के संकल्प से मेनका अप्सरा को पहाड़ी बनना पड़ा। अगस्त्य के वचन से नहुष को अजगर बनना पड़ा। वचन के साथ भी संकल्प रहता है। वचन के प्रभाव के साथ संकल्प का प्रभाव रहता है। स्थूल जगत सूक्ष्म जगत के नियंत्रण में रहता है। विचार भी संकल्प रूप है। पुरूष जैसा संकल्प करता है वैसा ही कर्म करने लगता है, जैसा कर्म करता है वैसा ही बन जाता है। बुरे कर्मों को त्यागने के पहले बुरे विचारों को त्यागना पड़ता है। भग्विद्वान से, मन्त्र–जप से , श्रवण से, सत्संग से बुरे विचारों की धारा को तोड़ देनी चाहिए। एकाएक मन का संकल्प–विकल्प से रहित होना असंभव है परंतु सात्विक वृत्तियों से तामस वृत्तियों को शनैः शनैः काट कर मन को एकाग्र करना संभव है।

ज्योतिष और हिन्दू समाज

हिन्दू समाज में ज्योतिष वेदों के नेत्र माने जाते है। इसके द्वारा वैदिक दृष्टिकोण को देखा एवं समझा जाता है। पिण्ड और ब्रहमाण्ड के रिश्ते को समझा जाता है। वैसे तो पंचांग विभिन्न ज्योतिष ग्रंथों के आधार पर बनाए जाते हैं, लेकिन मुख्य रूप से दो परंपराएं प्रचलित हैं।

एक तो सिद्धांतग्रंथ (इसमें सूर्यसिद्धांत, ग्रहलाघव, ब्रहमस्पुट सिद्धांत जैसे ग्रंथ शामिल हैं) व दूसरे कर्णग्रंथ (केतकी चित्रापक्ष व रेवतीतिलकपक्ष जैसे ग्रंथ) पर आधारित हैं। सिद्धांतग्रंथ प्राचीन हैं, जिनमें सृष्टि के आरंभ से लेकर अब की तिथि की गणनाएं हैं।

कर्णसिद्धांत आधुनिक ग्रंथ हैं। जिस समय इसकी रचना की गई, वहीं से गणना की जाती है। इसमें इष्ट समय मानकर (यानी जिस समय से गणना करना हो) भी गणना कर सकते हैं। इन ग्रंथों के आधार पर ग्रह – नक्षत्र, तिथि आदि की गणनाएं की जाती हैं। जिस स्थान का पंचांग बनाया जाता है वहां के उदयमान से उस क्षेत्र का पंचांग बनाते हैं। इन गणनाओं के लिए मध्य प्रदेश के उज्जैन शहर को केंद्र माना गया है। इसकी मुख्य वजह यह है कि यहां भूमध्य व कर्क रेखा एक–दूसरे को क्रास करती है। इसीलिए उज्जैन की सीधी गणना मान्य है। इसके बाद जिस स्थान का पंचांग

बनता है उस स्थान के उदयकाल के आधार पर पंचांग बनाते हैं।

चैत शुक्ल प्रतिपदा अथति वासंतिक नवरात्र के प्रथम दिन कल्प, सृष्टि और युगादि का आरंभ दिवस है। यह महापर्व है। इसीदिन पितामह ब्रहमा ने सृष्टि का आरंभ किया था। भगवान विष्णु का प्रथम (मत्स्य) अवतार भी इसीदिन हुआ था। इस दिवस के साथ करोड़ो वर्षों का इतिहास जुडा हुआ है। कल्पादि, सृष्टियादि, युगादि आरंभ का महापर्व होने से चैत्र शुक्ल प्रतिपदा का विशिष्ट महत्व है।

19 मार्च 2007 ही से इन महत्वपूर्ण वर्षों का आरंभ होगा। कल्पारंभ 197, 29, 49, 108 वां वर्ष, सृष्टि के आरंभ से 195, 58, 85, 108 वां वर्ष, कलियुग वर्ष 5107, विक्रम संवत 2064, शालिवाहन शक 1929, श्रीकृष्ण संवत 5233 आदि वर्ष चैत्र शुक्ल प्रतिपदा सोमवार 19 मार्च 2007 से गणना में रहेंगे।

जब अमावस्या के दिन निचली कक्षा में भ्रमण करने वाला चंद्रमा सूर्य को ढंक लेता है और सूर्य का प्रकाश अवरूद्ध होकर धरती पर नहीं पड़ता, सिर्फ सूर्य की काली परछाई ही दिखाई देती है। इसे पारंपरिक रूप से 'ग्रास' कहते हैं। यह परछाई या ग्रास जब सूर्य के आकार से छोटी होती है, तब खंडग्रास, जब सूर्य के आकार के बराबर होती है, तब सर्वग्रास तथा जब चंद्रमा की परछाई सूर्य के आकार से बड़ी होती है, तब 'खग्रास' कहलाता है। सूर्य ग्रहण् का सूतक ग्रहण के स्पर्शकाल से चार प्रहर अथति 12 घंटे पहले लग

जाता है। ग्रहण के सूतकाल में बालक, वृद्ध, रोगी एवं गर्भवती स्त्रियों को छोड़कर आस्तिक लोग भोजनादि नहीं करते।

19 मार्च 2007 का खंडग्रास सूर्यग्रहण 4 मार्च 2007 के चंद्रग्रहण के एक पखवाडे के भीतर पड़ रहा है। इसका संसार पर दूरगामी प्रभाव पड़ेगा। यह सूर्यग्रहण तंत्र और मंत्र साधना के लिए अति महत्वपूर्ण है। ऐसा सूर्यग्रहण 18 साल में एक बार आता है। प्रातः 6 बजकर 22 मिनट से प्रारंभ होकर 7 बजकर 4 मिनट तक लगने वाले खग्रास सूर्यग्रहण का ज्योतिष एवं तंत्र की दृष्टि से बहुत महत्व है। इससे पहले ऐसा ग्रहण फरवरी 1989 में आया था। ग्रहण के समय आसुरिक शक्ति का होता है और इस समय साधना करने से सुर और असुर दोनों प्रकार की शक्तियों का आह्वान करने में साधकों को आसानी होती है।

ग्रहण मंत्र – ओम नमो रूद्राय नमः

नवरात्र

नवरात्र में सृजन विद्या का लोकप्रिय, लोक कल्याणकारी विद्या अभिव्यक्त होती है। जिस तरह नौ महीनों में एक बच्चा पैदा होता है उसी के समरूप नौ दिनों में शक्ति का सृजन होता दिखाया जाता है। इनमें नौ की संख्या है जो तंत्र की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

जिस तरह छठ का संबंध अमृत तत्व से है उसी तरह दशहरा–दूर्गापूजा–नवरात्र का संबंध संजीवनी विद्या से है। दोनों का संबंध दक्षिणायण सूर्य से है। इसके विपरीत उत्तारायण सूर्य में मकर संक्रांति और विषुवत संक्रांति और रामनवमी का महत्व है। उत्तारायण सूर्य कृषि की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

इस्लाम चांद केन्द्रित है। यह सोम की साधना की एक विधि है। उनका ईद उल फित्र करीब–करीब दूर्गापूजा के समय (उसी चांद माह) में मनायी जाती है। जबकि क्रिसमस और मकर संक्रांति एक ही सौर मास में मनाया जाता है। बुद्ध जयंति भी उत्तारायण सूर्य में ही मनाया जाता है। यहुदियों और पारसियों का धार्मिक जीवन बुद्ध से पहले का मामला है। परन्तु इतना स्पष्ट है कि पारसी अग्नि–सूर्य पूजक हैं और यहुदि जल (वाटर)–सोम पूजक हैं।

संसार के सभी लोकप्रिय धर्मों का कर्मकाण्ड (रिचुअल) एवं उनके जातीय इतिहास में देश (स्पेस) और काल (टाइम) का विभाजन सूर्य या चन्द्र की गति या अग्नि – सोम की स्थिति से नियंत्रित होता है। सभी धर्मों के भीतर उनका अपना जातीय कैलेन्डर या पंचांग होता है।

सभी धर्मों में 3 अंग होता है (1) कर्मकाण्ड (2) धार्मिक विश्वास मिथक एवं आख्यान तथा (3) सामाजिक व्यवस्था। दो या अधिक धर्मों के बीच सबसे ज्यादा अंतर सामाजिक व्यवस्था के स्तर पर होता है। कर्मकाण्ड का संबंध सूर्य और चन्द्र से

होता है। धार्मिक विश्वास, मिथक एवं आख्यान का संबंध जातीय चेतना से होता है। सामाजिक व्यवस्था जातीय चेतना और देशकाल के आधार पर विकसित होता है। सामाजिक व्यवस्था की प्रथम अभिव्यक्ति भाषा में एवं नातेदारी व्यवस्था में होती है।

योग एवं भोग

सनातन धर्म एवं संस्कृति के दायरे में युग–निरपेक्ष लेखन ही टिकता है। युग–सापेक्ष लेखन को युग खा जाता है। कालजयी रचना युग–निरपेक्ष ही होती है।

सनातन वैदिक ज्ञान किसी भी युग को समझने की दृष्टि तथा चेतना देता है। यह कभी भी अप्रासंगिक नहीं होता। इसको प्रासंगिक बनाने की जरूरत ही नहीं है। यदि ऋचाएं आपको सुपात्र समझ कर खुलती हैं तो आपके पास अपने आप शक्ति आएगी। आप अपने आप शक्तिमान बन जाएंगे। भोगने के लिए शुद्र होना जरूरी है। योगने के लिए तपस–ब्राहमणत्व जरूरी है। यह **Biological-**नैसर्गिक **Evolution-Devolution** (आरोहण अवरोहण) का मामला है। जिसका नैसर्गिक झुकाव मोक्ष–कैवल्य–निर्वाण के प्रति है वह अपने आप धीरे–धीरे नपुंसक (सृजन की नवीन प्रक्रिया से दूर) होते चला जाएगा। जिसका नैसर्गिक झुकाव–सृजन–शक्ति–समृद्धि–भोग के प्रति है वह अपने आप सतोगुण से विरत और तमोगुण में रत हो जाएगा। जिसमें गति नहीं है वह स्थिति हो

जाएगा। जिसमें स्थिति है उसमें गति नहीं होगी। नदी एकमात्र अपवाद है जिसमें गति और स्थिति एक साथ है।

कुछ भी बनने या करने के लिए अपनी हद में, अपनी सीमा में, अपने स्वभाव में, अपने स्वभाव स्वधर्म में स्थित होना जरूरी है। आपको जो भी मिलता है वह आपके कर्म का ही फल होता है। इसका क्रियामान या क्रियाशील कर्म होना जरूरी नहीं है। संचित कर्म फल ही प्रारब्ध है।

कोई भी युग हो, कोई भी देश–काल–परिस्थिति–भाषा –विमर्श हो, **As A Whole**, यह एक **Suigeneris Divine Play** (दैवीय लीला) का ही **Manifestation** होता है और इस लीला के अनुरुप ही अपनी स्वभाविक भूमि को तलाशना पड़ता है। इसमें **Moral-ethical Dilemma** भी सामना करना पड़ता है। इसमें आप अपनी सीमा में जितना **Universalistic** (सार्वभौमिक) सोच सकते हैं अवश्य सोचिए। लेकिन भूमिका आपकी **Local** (स्थानीय) ही हो सकती है। और इसमें आपका वास्तव में कोई **Competitor** नहीं होता है।

भगवती और सृष्टि

प्राणियों के परिपक्व कर्मों का भोग द्वारा क्षय हो जाने पर प्रलय होता है। उस समय सब प्रपंच माया के ही उदर में लीन रहता है। माया भी स्व प्रतिष्ठ निर्गुण ब्रह्म में लीन रहती

है। माया भी अर्थ अव्यक्त भी है। गुणसाम्य बीजावस्था है, वही शुद्ध माया है। बीज का अंकुरित होना कार्यावस्था है। स्पष्ट ईक्षण और अहंकार आदि ही महत तत्व, अहन्तत्व आदि है। तदन्तर स्थूल कार्यादि सम्पत्ति होती है। अन्तर्मुख अव्यक्त की तुरीय अवस्था है। बहिर्मुख अव्यक्त की कारणदेह अवस्था है। बहिर्मुख अव्यक्त से सूक्ष्म – स्थूल देह की उत्पत्ति होती है, इसी में सम्पूर्ण विश्व आ जाता है।

समष्टि–व्यष्टि स्थूल–देह और ज्ञानेन्द्रिय तथा अन्तःकरण के अधिपति सरस्वती सहित ब्रहमा हैं। क्रियाशक्त्यामक लिंग–देह के अधिपति लक्ष्मी सहित विष्णु हैं। कारण–देह के अधिपति गौरी सहित रूद्र हैं। तुरीय–देह की अभिमानिनी भुवनेश्वरी और महालक्ष्मी हैं।

नवार्ण मन्त्र का अर्थ

'ऐं' इस वाग्बीज से चित्स्वरूपा सरस्वती बोधित होती हैं, क्योंकि ज्ञान से ही अज्ञान की निवृत्ति होती है। महावाक्यजन्य पर ब्रहम कार वृत्ति पर प्रतिबिम्बित होकर वही चिद रूपा भगवती अज्ञान को मिटाती हैं।

'ह्रीं' इस मायाबीज से सद्रूपा महालक्ष्मी विवक्षित हैं। त्रिकाल बाहय वस्तु ही नित्य है। कल्पित आकाशवादि प्रपंच के

अपवाद का अधिष्ठान होने से सदरूपा भगवती ही नित्यमुक्ता हैं।

'क्लीं' इस कामबीज से परमानंद स्वरूपा महाकाली विवक्षित हैं। सर्वानुभव संवेध आनंद ही परम पुरूषार्थ है। वही परात्पर आनंद महाकाली रूप है।

'चामुण्डाये' शब्द से मोक्षकारणीभूत निर्विकल्पक ब्रहमाकार वृत्ति विवक्षित है। विपदादिरूप चमू को जो नष्ट करके आत्मरूप कर लेती है, वही 'चामुण्डा' ब्रहमविद्या है। अधिदैव के मूला ज्ञान और तूला ज्ञान रूप चण्ड–मुण्ड को वश में करने वाली भगवती चामुण्डा कही गयी है।

'विच्चे' में 'वित्' 'च', 'इ' ये तीन पद क्रमेण चित, सत, आनन्द के वाचक हैं। वित् का ज्ञान अर्थ स्पष्ट ही है, 'च' नपुंसकलिंग सत का बोधक है, 'इ' आनंदब्रहममहिषी का बोधक है।

स्थान, करण, प्रयत्न तथा वर्णविभागशून्य, स्वयंप्रकाश ज्योति 'परा' वाक् है। सूक्ष्म बीज से उत्पन्न अंकुर के समान किंचित विकसित शक्ति ही 'पश्यन्ती' है। अन्तः संकल्प रूपा वाक् ही 'मध्यमा' है, व्यक्त वर्णादि रूप 'वैखरी' है।

अध्याय 6
पंचतत्व

श्री भगवती तत्व

तन्त्रों के अनुसार प्रकाश ही शिव और विमर्श ही शक्ति है। संहार में शिव का प्राधान्य रहता है, सृष्टि में शक्ति का प्राधान्य रहता है। प्रकृति में ही सूक्ष्म रूप से सब वस्तु स्थित हैं। परम शिव और शक्ति दोनों ही श्लिष्ट होकर रहते हैं। अर्थात् ज्ञान और अर्थ दोनों ही अविकल्पित होकर एक में रहते हैं, तब साम्यावस्था समझी जाती है।

प्रकृति की सत्ता

ज्ञानस्वरूप पुरूष की सत्ता पारमार्थिक है, अर्थरूप प्रकृति की सत्ता अवास्तविक है। अर्थ के न रहने पर भी संस्कृति की निवृत्ति नहीं होती। माया के कारण कोई वस्तु न होने पर भी प्रतीत होती है। शक्ति शब्द से जैसे अचित् प्रकृति के अतिरिक्त, जीव आदि का भी ग्रहण होता है, वैसे ही भगवती शब्द से शुद्ध निगुर्ण चिच्छिक्ति का भी बोध होता है। सच्चिदानन्दात्मिका भगवती ही उपास्य होती है।

अनन्तकोटिब्रहमाण्डात्मक प्रपंच की अधिष्ठान भूता सच्चिदानन्द रूप भगवती ही सम्पूर्ण विश्व को सत्ता, स्फूर्ति तथा सरसता प्रदान करती हैं। विश्व प्रपंच उन्ही में उत्पन्न,

स्थित एवं लीन होता है। सदानन्द स्वरूप महाचिति भगवती में सम्पूर्ण विश्व भासित होता है।

महाशक्ति का आश्रयण करके वही त्रिपुरसुन्दरी, भुवनेश्वरी, विष्णु, शिव, कृष्ण, राम, गणपति, सूर्य आदि रूप में भी प्रकट होती है। स्थूल, सूक्ष्म, कारण, त्रिशरीर रूप त्रिपुर के भीतर रहने वाली सर्व–साक्षिणी चिति ही त्रिपुरसुन्दरी है। महालक्ष्मी, महासरस्वती, महागौरी आदि उसी के अवतार हैं। यद्यपि श्रीभगवती नित्य ही है, तथापि देवताओं के कार्य के लिए वह समय–समय पर अनेक रूप में प्रकट होती है।

मायारूपिणी भगवती–माया को ही विश्व की प्रकृति समझना चाहिए और मायाविशिष्ट ब्रहम को ही परमेश्वर समझना चाहिए। ईश्वर अपनी प्रकृति का ही सहारा लेकर अवतीर्ण होते हैं। ईश्वर की अध्यक्षता में प्रकृति ही चराचर प्रपंच का निर्माण करती है। भगवान् स्वयं कहते हैं कि प्रकृति मेरी योनि है, उसी में मैं गर्भाधान करके विश्व का निर्माण करता हूँ। सम्पूर्ण प्राणियों में जो मूर्तियाँ उत्पन्न होती हैं, उन सबकी प्रकृति ही जननी है और मैं बीज प्रदान करने वाला पिता हूँ। गुणमयी प्रकृति का अतिक्रमण बहुत ही कठिन है। अधिष्ठान ब्रहम के साक्षात्कार से ही उसका अतिक्रमण हो सकता है, अन्यथा नहीं।

अविधा को क्षर और विद्या को अमृत कहते हैं। सृष्टि में जो परमा है, वही प्रकृति है। माया स्थूल, सूक्ष्म, कारण और

समाधि इन चार रूपों में प्रकट होती है, ज्ञानों को ढंकने वाली है, जीव, ईश्वर दोनों ही उससे संबंध रखते हैं।

माया अविद्या और अ–ज्ञान है। यहां ज्ञान का अभाव नहीं है, किन्तु ज्ञाननिवर्त्य, रूप, अनिर्वचनीय यर्थाथ की ओर संकेत है। तभी उसमें आवरण हेतुता बन सकती है। अज्ञान ब्रहम स्वरूप ज्ञान का आवरक है। माया भी आवरक है।

योगनिद्रा, जड़शक्ति, अचित्, अज्ञान, अविद्या, माया, प्रकृति इत्यादि सभी शब्द एक ही अर्थ के बोधक हैं। इस शक्ति के अंतरंग रूप से भगवद्लोक और बहिरंग शक्ति से जगत का निर्माण होता है।

गायत्री तत्व

लोकात्मा, वेदात्मा एवं प्राणात्मा ये तीनों ही गायत्री के तीन पाद हैं। परब्रहम परमात्मा ही चतुर्थ पाद हैं। सम्पूर्ण छन्दों में गायत्री छंद प्रधान है, क्योंकि वही छन्दों के प्रयोक्ता प्राणों का रक्षक है। सम्पूर्ण छन्दों का आत्मा प्राण है, प्राण की आत्मा गायत्री है। गायत्री सम्पूर्ण वेदों की जननी है। जो गायत्री का अभिप्राय है, वही सम्पूर्ण वेदों का अर्थ है। विश्व–तैजस–प्राज्ञ, विराट्–हिरण्य गर्भ अव्याकृत व्यष्टि–समष्टि जगत् तथा उसकी जाग्रत–स्वप्न–सुषुप्ति–ये तीनों अवस्थाएं प्रणव की अ, उ, म इन तीनों मात्राओं के अर्थ हैं। सर्वपालक परब्रहम प्रणव का वाच्यार्थ सर्वाधिष्ठान, सर्वप्रकाशक, सगुण, सर्वशक्ति, सर्वरहित

ब्रहम प्रणव का लक्ष्यार्थ है। उत्पादक, पालक, संहारक त्रिविध लोकात्मा भगवान तीनों व्याहृतियों के अर्थ हैं। जगदुत्पति–स्थिति–संहार–कारण परब्रहम ही 'सवितृ' शब्द का अर्थ है। गायत्री के द्वारा विश्वोत्पादक, स्वप्रकाश परमात्मा के उस रमणीय चिन्मय तेज का ध्यान किया जाता है, जो समस्त बुद्धियों का प्रेरक एवं साक्षी है। अनंत कल्याणगुणगण सम्पन्न, सगुण, निराकार परमेश्वर की उपासना गायत्री के द्वारा हो सकती है। सगुण, साकार, सच्चिदानन्द परब्रहम का ध्यान गायत्री के द्वारा किया जा सकता है। प्राणिप्रसवार्थ सूड़ धातु से सवृति शब्द की निष्पत्ति होती है। उत्पत्ति, स्थिति एवं लय का कारण पर ब्रह्म ही 'सवितृ' शब्द का अर्थ है। इस दृष्टि से उत्पादक, पालक, संहारक, ब्रह्मा, विष्णु, रूद्र तथा उनकी स्वरूप भूत तीनों शक्तियों का ध्यान गायत्री मंत्र से किया जाता है। त्रिपदा गायत्री आदित्य में प्रतिष्ठित है। गायत्री आध्यात्म प्राण में प्रतिष्ठित है। जिस प्राण में सम्पूर्ण देव, वेद, कर्मफल एक हो जाते हैं, वही प्राणरूपा गायत्री सबकी आत्मा है। उपस्थान मंत्र में कहा गया है कि 'हे गायत्री! आप त्रैलाक्यरूप पाद से एकपदी हो, त्रयीं विद्या रूप पाद से द्विपदी हो, प्राणादि तृतीय पाद से यतुष्पदि हो। अतः प्रत्यक्ष परोरजा (परोरजा का अर्थ है सृष्टि को उत्पन्न करने वाली परा रजः शक्ति। भगवती परम रज हैं। उन्ही से संसार, जगत और सृष्टि की उत्पत्ति होती है) आपके तुरीय पाद को हम प्रणाम करते हैं।'

यह सम्पूर्ण चराचर भूत–प्रपंच गायत्री ही हैं। वाक् ही गायत्री हैं। वाक् ही समस्त भूतों का गान एवं रक्षण करती है। गायत्री पृथ्वी रूप है। पृथ्वी में सम्पूर्ण प्राणों की स्थिति है। अपने इष्ट देवता का ध्यान गायत्री मंत्र द्वारा सर्वथा उपयुक्त है। सविता शब्द सूर्य का द्योतक है। उसी की सार शक्ति सावित्री है। गायत्री मंत्र का जप चाहे किसी स्थान, समय एवं स्थिति में नहीं किया जा सकता। इसके लिए पवित्र देश–काल तथा पात्र की अपेक्षा है, तभी वह त्राण कर सकती है।

गणपति – तत्व

सर्व जगत नियंता पूर्ण परम तत्व ही गणपति तत्व हैं। 'गण' शब्द समूह का वाचक होता है। समूहों के पालन करने वाले परमात्मा को गणपति कहते हैं। गणपति ब्रह्म ही हैं। उन्हीं से जगत की उत्पत्ति, स्थिति और लय होता है। एक ही परम तत्व भिन्न–भिन्न गुण गण सम्पन्न होकर नाम रूपवान् होकर अभिव्यक्त होता है। इसीलिए भिन्न–भिन्न पुराणों में शिव, विष्णु, सूर्य, शक्ति और गणपति आदि सभी ब्रह्म रूप से विवक्षित हैं। शास्त्र गणपति को पूर्ण परब्रह्म बतलाते हैं।

गणपति के स्वरूप में नर तथा गज इन दोनों का ही सामंजस्य पाया जाता है। शास्त्रों में 'नर' पद से प्रणवात्मक सोपाधिक ब्रह्म कहा गया है। समाधि से योगी लोग जिस परम तत्व को प्राप्त करते हैं, वह 'ग' है और जैसे बिम्ब से प्रतिबिम्ब

उत्पन्न होता है, वैसे ही कार्यकारी स्वरूप प्रणवात्मक प्रपंच जिससे उत्पन्न होता है, उसे 'ज' कहते हैं। अतः 'गज' पद का भी अध्यात्मिक अर्थ है।

भारतीय संस्कृति में गणपति का लोकप्रिय नाम श्री गणेश है। देवि–देवताओं में श्री गणेश का स्थान सर्वोपरि है। हिन्दू धर्म का कोई भी कार्य हो, उसका प्रारंभ श्री गणेश पूजन से ही होता है, इसको 'श्री गणेशाय नमः' भी कहते हैं। हिन्दू धर्म में तैंतीस करोड़ देवी–देवता हैं, परन्तु प्रत्येक देवता की पूजा में अग्रस्थान श्री गणेश का ही है। श्री गणेश तो देवताओं को भी वरदान देने वाले स्वयं ऊँकार स्वरूप हैं। यजुर्वेद में इन्हें गणपति, प्रियपति एवं निधिपति के रूप में आहूत किया गया है। ये प्रथम पूज्य हैं, गणेश हैं, विघ्नेश हैं साथ ही विद्या–वारिधि और बुद्धि–विधाता भी हैं। स्वास्तिक–चिन्ह श्री गणपति का स्वरूप है और दो–दो रेखाएं श्री गणपति की भार्या स्वरूप सिद्धि–बुद्धि एवं पुत्र स्वरूप लाभ और क्षेम हैं। श्री गणपति का बीजमंत्र है अनुस्वार युक्त ग अर्थात् 'गं' इस 'ग' बीजमंत्र की चार संख्या को मिलाकर एक कर देने से स्वास्तिक चिन्ह बन जाता है। इस चिन्ह में चार बीजमंत्रों का संयुक्त होना श्री गणपति की जन्म तिथि चतुर्थी का द्योतक है। श्री गणपति बुद्धि प्रदाता हैं। इनका पूजन सिद्धि–बुद्धि, लाभ और क्षेम प्रदान करता है। यही भाव स्वास्तिक के आसपास दो–दो बड़ी रेखाओं का है। इनको विनायक, गणेश्वर, गजानन, एकदन्त, लम्बोदर, सूर्पकर्ण, विघ्नराज, सुमुख,

गणधिम, हेरम्ब, विकट, धुम्रकेतु, विघ्नेश, परशुपाणि, गजास्य, सूर्पकर्ण तथा मुषकध्वज आदि अनेक नामों से संबोधित किया गया है।

गणपति की उपासना प्राचीन आर्य जगत की पंचदेवोपासना में एक मुख्य उपासना है। जिस प्रकार प्रत्येक मंत्र के आरंभ में ओंकार का उच्चारण आवश्यक है, उसी प्रकार शुभ अवसर पर गणपति की पूजा अनिवार्य है। कृत युग में गणेश जी का वाहन सिंह है, वे दस भुजा वाले, तेज स्वरूप और विशालकाय तथा सबको वर देने वाले हैं। उनका नाम विनायक है। त्रेता युग में इनका वाहन मयूर है, वे छः भुजावाले हैं। श्वेत वर्ण हैं। तीनों लोकों में मयूरेश्वर नाम से प्रसिद्ध हैं।

द्वापर में इनका वर्ण लाल है आखु–मूषक वाहन है। उनकी चार भुजाएँ हैं। वे देवता और मनुष्यों के द्वारा पूजित हैं। इनका नाम गजानन है।

कलियुग में उनका धूम्रवर्ण है, वे घोड़े पर आरूढ़ रहते हैं, उनके दो हाथ हैं, उनका नाम ध्रूमकेतु है, वे मलेच्छवाहिनी का विनाश करते हैं। लेकिन लोक में श्री गणेशजी का सर्वप्रसिद्ध वाहन मूषक है। ऋग्वेद के भाष्यकार स्कन्द स्वामी ने लिखा है कि वैदिक देवता वृहस्पति ही विघ्नेश गणपति हैं। लौकिक साहित्य में गणेश के दो मुख्य गुणों का वर्णन है–एक विद्या, बुद्धि एवं धन प्रदान करना और दूसरा विघ्न या दुष्टों का दमन करना। समकालीन भारत में तिलक महाराज ने

गणपति महोत्सव का प्रारंभ करके गणपति पूजा को महत्ता दिलवायी। शिव पुराण में वे भगवान शिव और भगवती पार्वती के दत्तक पुत्र माने गए हैं। कार्तिकेय के वे भाई माने गए हैं। कार्तिकेय भगवान शिव और भगवती पार्वती के औरस पुत्र हैं।

श्री विष्णु तत्व

विष्लृ धातु से विष्णु शब्द की निष्पत्ति होती है तथा व्यापक परब्रहम परमात्मा को ही विष्णु कहा जाता है।

अनन्त कोटि ब्रहमाण्डोत्पादिनी शक्ति में कार्योत्पत्ति के लिए प्रकाशात्मक सत्व, चलनात्मक रज तथा अवष्टम्भात्मक तम की अपेक्षा होती है।

ब्रहम ही रज के संबंध में ब्रहमा, तम के संबंध में रूद्र एवं सत्व के संबंध में विष्णु बन जाता है।

उत्पादिनी शक्ति विशिष्ट ब्रहम, ब्रहमा, संहारिकी शक्ति विशिष्ट ब्रहम रूद्र तथा पालिनीशक्ति विशिष्ट ब्रहम विष्णु बन जाती है। तीनों अन्तर्यामी हैं।

अनन्तकोटि ब्रहमाण्डात्मक सम्पूर्ण विश्व के उत्पादक ब्रहमा, पालक विष्णु और संहारक रूद्र सर्वथा एक ही है। अनन्त कोटि ब्रहमाण्ड की उत्पत्ति–स्थिति–प्रलयंकारिणी महाशक्ति ही सम्पूर्ण शक्तियों की केन्द्र है।

उन्हीं शक्तियों से अनन्त ब्रहमाण्ड बनते हैं। प्रत्येक ब्रहमाण्ड की शक्तियों में तम–प्रधान शक्ति से भूत–भौतिक प्रपंच की सृष्टि होती है। तामस भूतों में भी सत्व, रज, तम आदि का अंश रहता है। अतएव सात्विक भूतों से अन्तःकरण एवं ज्ञानेन्द्रियाँ, राजस से प्राण एवं कर्मेन्द्रियां उत्पन्न होती है। तामस से स्थूल भूत बनते हैं।

ब्रहमाण्ड शक्ति के जैसे तामस अंश से उपर्युक्त प्रपंच बनाता है, वैसे ही रजस्त मोलेशानुविद्ध सत्वांश से अविधा एवं रज आदि से अननुविद्ध सत्व से विद्या या माया का आविर्भाव होता है।

अविधाएँ रज आदि के अनुवेध–वैचित्त्य से अनन्त हैं। अतः उनमें प्रतिबिम्बित चैतन्यरूप जीव भी अनन्त है। जो लोग अविधा को भी एक ही मानते हैं, उनके मत से जीव भी एक ही होता है। विशुद्ध सत्वप्रधानाविद्या में भी अशंतः सत्व, रज, तम होते हैं। उसी सत्व प्रधाना शक्ति स्वरूपा विद्या के सात्विक अंश से विष्णु, राजस अंश से ब्रहमा और उसी विद्या के तामस अंश से रूद्र का आविर्भव होता है। महाशक्ति के तमः प्रधान अंश से जड़वर्ग का, अशुद्ध सत्वप्रधान शक्ति से मोक्षवर्ग का और विशुद्ध सत्वप्रधान शक्ति से महेश्वर का आविर्भाव होता है।

महाशक्ति विशिष्ट ब्रहम एक ही है, अतः ब्रहम का ही भोग्य, भोक्ता तथा महेश्वर के रूप में आविर्भाग समझा जाता है।

जगत के पालन में सर्वातशायी ऐश्वर्य की अपेक्षा होती है, अतः विष्णु भगवान् में परमेश्वर्य का अस्तित्व है। समग्र ऐश्वर्य, समग्र धर्म, समग्र यश, समग्र श्री, समग्र ज्ञान, समग्र वैराग्य जिसमें हों, वही भगवान् हैं, अथवा प्राणियों की उत्पत्ति, प्रलय, गति, आगति, विद्या, अविद्या को खूब जानने वाला ही भगवान् है। विश्व–मात्र का फलित–प्रफुल्लित करना उनके ऐश्वर्य से पूर्ण करना पालक का काम है। इसीलिए विष्णु भगवान में पराकाष्ठा का ऐश्वर्य पाया जाता है।

माया, सूत्रात्मा, महान्, अहंकार, प्रञचतन्मात्रा, ग्यारह इन्द्रियाँ, पंच महाभूत इन षोडश विकारों के साथ महाविराट् भगवान का स्थूल रूप है। भगवान् के उसी सात्विक रूप में तीनों भुवन प्रतिभासित होते हैं। यही पौरूष का रूप है। भूलोक ही इस पुरूष का पाद है। द्यौलोक ही शिर है, अन्तरिक्ष लोक ही नाभि है, सूर्य नेत्र, वायु नासिका, दिशाएं कान, प्रजापति प्रजेनेन्द्रिय, मृत्यु पायु (गुदा), लोकपाल बाहु, चन्द्रमा मन और यम ही भगवान् की भृकुटी है। लज्जा भगवान का उत्तरोष्ठ है, लोभ अधरोष्ट है, ज्योत्सना दन्त है, माया ही मन्दहास है, सम्पूर्ण भूरूह (वृक्षादि) लोभ हैं, मेघ केश हैं।

तम की उपाधि से उपहित, तम के नियामक भगवान् शिव का वर्ण श्यामल है। उन्हीं का ध्यान करते–करते विष्णु श्यामल हो जाते हैं। विष्णु का ध्यान करते–करते उनका स्वाभाविक शुक्त रूप शंकर में प्रकट हो जाता है। ये दोनों ही परस्परानुरक्त एवं परस्परातमा हैं। युग के अनुरूप भी

युगनियामक भगवान् का रूप होता है। जैसे मनुष्यों का नियमन के लिए भगवान् को मनुष्यानुरूप बनना पड़ता है, वैसे ही युगनियमन के लिए भगवान् को युगानुरूप बनना पड़ता है। सत्वप्रधान कृतयुग, रजोमिश्रित सत्वप्रधान त्रेता, रजः प्रधान द्वापर और तमःप्रधान कलियुग होता है। अतः कृतयुगीन भगवान् शुक्ल रूप में प्रकट होते हैं। त्रेता के अनुरूप भगवान का रक्तरूप है, द्वापर के अनुरूप पीत एवं कलि के अनुरूप भगवान् का कृष्ण रूप होता है।

श्री शिव तत्व

शिव वही तत्व है जो समस्त प्राणियों के विश्राम का स्थान है। मूलतः शिव एवं विष्णु एक ही हैं, फिर भी उनके ऊपर रूप में सत्व के योग से विष्णु को सात्विक और तम के योग से रूद्र को तामस कहा जाता है। सत्वनियंता विष्णु और तमनियंता रूद्र हैं। तम ही मृत्यु है, काल है। अतः उसके नियंता महामृत्युंजय महाकालेश्वर भगवान रूद्र हैं। तम प्रधान प्रलयावस्था से ही सर्व प्रपंच की सृष्टि होती हैं।

कृष्ण के भक्त तम को बहुत ऊँचा स्थान देते हैं। जब सृष्टिकाल के उपद्रवों से जीव व्याकुल हो जाता है, तब उसको दीर्घ सुषुप्ति में विश्राम के लिए भगवान सर्वसंहार करके प्रलयावस्था व्यक्त करते हैं। यह संसार भी भगवान की कृपा ही है। तम प्रधानावस्था है, उसी से व्यक्त करते हैं। यह संसार

भी भगवान की कृपा ही है। तम प्रधानावस्था है, उसी से उत्पादनावस्था और पालनावस्था व्यक्त होती है। अन्त में फिर भी सबको प्रलयावस्था में जाना पड़ता है। उत्पादनावस्था के नियामक ब्रह्मा, पालनावस्था के नियामक विष्णु और संहारावस्था एवं कारणावस्था के नियामक शिव हैं। पहले भी कारणावस्था रहती हैं, अंत में भी वही रहती है। प्रथम भी शिव हैं, अंत में भी शिव तत्व ही अवशिष्ट रहता है। तत्वज्ञ लोग उसी में आत्म–भाव करते हैं। शिव ही सर्वविद्याओं एवं भूतों के ईश्वर हैं, वहीं महेश्वर हैं, वही सर्वप्राणियों के हृदय में रहते हैं। एकादश प्राण रूद्र हैं। निकलने पर वे प्राणियों को रूलाते हैं, इसलिए रूद्र कहे जाते हैं। दस इन्द्रियां और मन ही एकादश रूद्र हैं। ये आध्यात्मिक रूद्र हैं। आधिदैविक एवं सर्वोपाधिविनिर्मुक्त रूद्र इनसे पृथक हैं। जैसे विष्णु पाद के अधिष्ठाता हैं, वैसे ही रूद्र अहंकार के अधिष्ठाता हैं।

शिव की आत्मा विष्णु और विष्णु की आत्मा शिव हैं। तम काला होता है और सत्व शुक्ल परन्तु परस्पर एक–दूसरे की ध्यानजनित तन्मयता से दोनों के ही स्वरूप में परिवर्तन हो गया अर्थात सतोगुणी विष्णु कृष्णवर्ण हो गए और तमोगुणी रूद्र शुक्लवर्ण हो गए।

श्री राधा रूप से श्री शिवरूप का प्राकट्य होता है, तो कृष्णरूप से विष्णु का, काली रूप से विष्णु का तो शंकररूप से शिव का।

कालकूट विष और शेषनाग को गले में धारण करने से भगवान की मृत्युंजयरूपता स्पष्ट है। जटामुकुट में श्रीगंगा को धारण कर विश्व मुक्ति मूल को स्वाधीन कर लिया। अग्निमय तृतीय नेत्र के समीप में ही चन्द्रकला को धारण कर अपने संहारकत्व–पोषकत्व स्वरूप विरूद्ध धर्माश्रयत्व को दिखलाया। सर्वलोकाधिपति होकर भी विभूति और व्याघ्रचर्म को ही अपना भूषण–बसन बनाकर संसार में वैराग्य को ही सर्वापेक्ष्या श्रेष्ठ बतलाया। शिव का वाहन नंदी, तो उमा का वाहन सिंह, गणपति का मूषक, तो कार्तिकेय का वाहन मयूर है। मूर्तिमान त्रिशूल और भैरवादिगण आपकी सेवा में सदा संलग्न हैं। सुर, नर, मुनि, नाग, गन्धर्व, किन्नर, असुर, दैत्य भूत, पिशाच, वेताल, डाकिनी, शाकिनी, वृश्चिक, सर्प, सिंह सभी उनको पूजते हैं। आक, धतूरा, अक्षत बेलपत्र, जल से उनकी पूजा की जाती है।

शिवजी का कुटुम्ब भी विचित्र ही है। अन्नपूर्णा का भण्डार सदा भरा, पर भोले बाबा सदा के भिखारी। कार्तिकेय सदा युद्ध के लिए उद्धत, पर गणपति स्वभाव से ही शांतिप्रिय। कार्तिकेय का वाहन मयूर, गणपति का मूषक, पार्वती का सिंह और शिव का नंदी, उस पर सर्पों का आभूषण। सभी एक–दूसरे के शत्रु, पर गृहपति की छत्रछाया में सभी सुख तथा शांति से रहते हैं। घर में प्रायः विचित्र स्वभाव और रूचि के लोग रहते हैं। घर की शांति के आदर्श की शिक्षा भी शिव से ही मिलती है।

भगवान शिव और अन्नपूर्णा आप परम विरक्त रहकर संसार का सब ऐश्वर्य श्री विष्णु और लक्ष्मी को अर्पण कर देते हैं। श्री लक्ष्मी और विष्णु भी संसार के सभी कार्यों को संभालने, सुधारने के लिए अपने आप ही अवतीर्ण होते हैं।

शिवलिंगों पासना का रहस्य

सत्ता के बिना आनंद नहीं और आनंद के बिना सत्ता नहीं। मूल प्रकृति (योनि) और परमात्मा (लिंग) ही संसार और जगत की उत्पत्ति के कारण हैं। समष्टि ब्रहम का प्रकृति की ओर झुकाव अधिदैविक काम है। राधाकृष्ण, गौरीशंकर, अर्धनारीश्वर का परस्पर प्रेम, परस्पर आकर्षण है और यह शुद्ध प्रेम ही शुद्ध काम है। यह कामेश्वर या कृष्ण का स्वरूप ही है। सत रूप गौरी एवं चितरूप शिव दोनों ही जब अर्द्धनारीश्वर के रूप में मिथुनीभूत होते हैं, तभी पूर्ण सच्चिदानंद का भाव व्यक्त होता है, परन्तु यह भेद केवल औपचारिक ही है, वास्तव में तो वे दोनो ही हैं। भगवान अपने स्वरूप को देखकर स्वयं विस्मित हो जाते हैं। बस इसी से प्रेम या काम प्रकट होता है। इसी से शिव शक्ति का संमिलन होता है। यही श्रृंगार रस है। पूर्ण सौन्दर्य अनन्त है। उसी सौन्दर्य के कणमात्र से विष्णु ने मोहिनी रूप से शिव को मोह लिया। वही सगुण रूप में ललिता, कहीं कृष्ण रूप में प्रकट होता है।

निराकार, निर्विकार, व्यापक हक् या पुरूष तत्व का प्रतीक ही लिंग है और अनन्त ब्रहमाण्डोत्पादिनी महाशक्ति प्रकृति ही योनि, अर्घा या जलहरी है। न केवल पुरूष से सृष्टि हो सकती है, न केवल प्रकृति से। पुरूष निर्विकार, कूटस्थ है, प्रकृति ज्ञानविहीन, जड़ है।

भगवान कहते हैं – महद्‌ब्रह्म–प्रकृति–मेरी योनि है, उसी में मैं गर्भाधान करता हूँ, उससे महदादिक्रमण समस्त प्रजा उत्पन्न होती है। लिंग और योनि व्यापक शब्द हैं। गेहूँ, जौ आदि में भी जिस भाग में अंकुर निकलता है उसे योनि माना जाता है, दाने निकलने से पहले जो छत्र होता है वह लिंग है।

उत्पत्ति का आधार क्षेत्र भग है, बीज लिंग् है। शिव सूक्ष्म अतीन्द्रिय लिंग् है। शक्ति सूक्ष्म अतीन्द्रिय योनि है। स्थूल लिंग और योनि तो सूक्ष्म लिंग एवं योनि की अभिव्यक्ति के संभावित रूपों में से एक रूप है। प्रतिबिम्ब मात्र है।

अध्याय 7

हनुमान

कलि काल के प्रमुख देवता के रूप में हनुमान जी को स्थापित करने में समर्थ रामदास और तुलसीदास की प्रमुख भूमिका रही है। तुलसीदास के अनुसार इनकी माता का नाम अंजनी और पिता का नाम केसरी था। ये भगवान शंकर के रूद्र रूप के अवतार माने जाते हैं। इनको सीता माता ने वरदान के रूप में अष्ट सिद्धि और नवनिधि का स्वामित्व प्रदान किया था। हनुमान जी की कृपा प्राप्त करने पर आठ प्रकार की सिद्धियां मिलती हैं और नौ प्रकार की संपत्तियां मिलती हैं। ये रोगों के नाश करते हैं तथा दर्द एवं भय भगाने वाले देवता हैं। इनकी कृपा मिलने पर सुख, शांति, संतोष एवं ऐश्वर्य मिलता है। हनुमान चालीसा के सात बार प्रतिदिन पाठ करने पर दुनिया के हर संकट से छुटकारा मिलता है। समर्थ रामदास ने हनुमान मंदिरों को गर्भ–गृह से बाहर किसी भी सड़क, चौराहा, अखाड़ा या खाट पर स्थापित करने की परम्परा डाली और उनकी पूजा विधि को सरल बनाया ताकि विधर्मी लोग उनके मंदिरों को तोड़ने की कोशिश न करे इसलिए असंख्य हनुमान मंदिरों की स्थापना करवायी और घर–घर में रामनवमीं के दिन महावीर पताका की स्थापना करवाया। सर्वप्रिय, सर्वमान्य और सर्वहितकारी लोकदेवता हैं

हनुमान। हमारा तन उतना नहीं थकता, जितना मन थकता है। मन का नियंत्रण करने में हनुमान जी मददगार हैं। हनुमान जी प्राण यानी वायु के देवता हैं। श्री हनुमान चालीसा के साथ प्राणायाम करने का विधान है। सांस के नियंत्रण से मन विश्राम की मुद्रा में आ जाता है और मन में शांति बनी रहती है। हनुमान जी पंच तत्वों (पृथ्वी, अग्नि, जल, आकाश और वायु) में वायु के देवता हैं वायु तत्व का तन और मन पर सबसे ज्यादा प्रभाव रहता है।

अध्याय 8
सनातन सत्य

विचार–अग्नि है। विज्ञान अग्नि है। विद्या–सोम है। कला सोम है।

भाद्रपद में नदियों (मन) का वेग रोककर उनके उद्‌गम स्थान में लौटाकर उन्हें सुखा देना असंभव है, परन्तु उनकी धाराओं का मुँह फेरकर उन्हें छिन्न–भिन्न कर सुखाना संभव है। इसी तरह सात्विक वृत्तियों से तामस वृत्तियों को शनैःशनैः काट कर मन को संकल्प–विकल्प से रहित रखना संभव है। अंतरंग सूक्ष्म सात्विक वृत्तियों से स्थूल बहिरंग सात्विक वृत्तियों को भी काट कर निर्वृत्तिकता सम्पादन की जा सकती है।

जैसे लोगों का सहवास होता है और जैसे लोगों का सेवन होता है, जैसा होने की उत्कृष्ट वांछा होती है, प्राणी वैसा ही हो जाता है। अच्छे विचारों का आदर और उनके उपवृंहण की भावना से तथा दूसरों के शुभानुसंधान से विचारों में बल आता है। कोई भी प्राणी एकाग्रता से संकल्प या विचार द्वारा ही बाहरी प्रयत्नों के बिना ही मनचाही वस्तु बना सकता है। यदि प्राणी बार–बार संकल्पित पदार्थ के प्रति अविश्वास करता है तो यह अविश्वास संकल्प सिद्धि में बाधक होता है। भावना या उपासना में भी यह अविश्वास ही प्रतिबन्धक है। विश्वास पूर्वक संकल्पित इष्टदेव की मूर्ति, उसके भूषणालंकार,

भोग–रोगादि कुछ दिनों में प्रत्यक्ष प्रकट हो जाते हैं। सभी देश–काल आदि मन की ही कल्पना हैं। यही संसार है।

गृह छिद्र से आने वाली सूर्य–किरणों में दिखाई देने वाले सूक्ष्मरजों का आठवाँ या छठा हिस्सा परमाणु है, उसका पांचवाँ हिस्सा स्पर्शतन्मात्रा, उसके स्वल्पांश में प्राण और प्राण के सहारे रहने वाले मन में ब्रह्माण्ड रहता है। ब्रह्माण्ड में अनन्त मन रहते हैं, उनमें ब्रह्माण्ड रहता है।

संकल्प के बल से स्वल्प देश में महादेव, स्वल्प काल में महाकाल का प्रवेश संभव है। सूक्ष्म संकल्प से या विचार से ही स्थूल जगत बन जाता है। मनोमय जगत ही स्थूल प्रपंच होकर भासित होने लगता है। जैसे सूर्य के किरणों में रहने वाला अति सूक्ष्म जल ही कठोर बर्फ बन जाता है, वैसे ही अति सूक्ष्म संकल्प ही कठोर जगत बन जाता है। भावना ही अभिनिवेश की अधिकता से गाढ़ होते होते स्थूल प्रपंच बन जाती है। उसके स्थूल या सूक्ष्म बनाने की पद्धतियाँ (तंत्र) जिन्हें मालूम है, वे लोग सहज में ही स्थूल को सूक्ष्म और सूक्ष्म को स्थूल बना लेते हैं। वैसे ही संकल्प की ही महिमा से स्थूल जगत सूक्ष्म और सूक्ष्म जगत स्थूल बन जाता है। इसी संकल्प को कामधेनु, चिन्तामणि या कल्पतरू भी कहा जाता है।

बुरे कर्मों को छोड़कर अच्छे कर्मों, आराधनाओं, तपस्याओं में लगे रहने पर संकल्प या विचार की शक्ति मजबूत हो जाती है। दृढ़ संकल्प से प्राणी सब कुछ प्राप्त कर

सकता है। जैसे वायु के योग से जल ही तरंग बन जाता है, उसी तरह मननी शक्ति के योग से अखण्डबोध–स्वरूप परमात्मा ही विचार या संकल्प बन जाता है। निर्विकल्प बोध ही जब सविकल्प हो जाता है, तब वही संकल्प या विचार कहलाने लगता है। विचार में से विकल्प के निकलते ही वह निर्विकल्प बोधरूप परमात्मा ही बन जाता है। इस तरह सविकल्प बोध विचार या संकल्प के भीतर सम्पूर्ण विश्व रहता है और वह विचार अखण्ड बोध से कवलित रहता है।

समस्त प्रपंच को संकल्प में लीन करने और संकल्प को अखण्ड बोध में लीन कर लेने पर शुभतत्व का साक्षात्कार अपने आप हो जाता है। शुभ संकल्प से दुर्लभ से दुर्लभ चीज मिल सकती है। बुरे संकल्पों से उनकी शक्ति घटती है, अच्छे संकल्पों से उनकी महिमा बढ़ती है। विशिष्ट शक्ति संपन्न महात्मा या ऋषि तो अकेले ही अपने दृढ़ संकल्प से विश्व का कल्याण कर सकता है, दुनिया की भावना में परिवर्तन कर सकता है, परन्तु उनके अभाव में सामूहिक संकल्प काम देता है।

सामूहिक संकल्प–धर्म की जय हो, अधर्म का नाश हो, प्राणियों में सद्भावना हो, विश्व का कल्याण हो।

जब मन की हलचल है तभी द्वैत है। मन की हलचल न होने से विश्व का पता ही नहीं लगता। तपस्या, सत्कर्म और उत्तम मंत्रों के जप से जुड़कर संकल्प का बल दुगुना हो जाता है।

'मंत्र परम लघु जासु बस, विधि हरिहर सुर सर्व' महामंत्र गजराज कहँ, वश कर अंकुश खर्व जैसे संसार के विविध तृणों में विचित्र शक्तियाँ होती हैं, कोई तृण किसी रोग को दूर कर सकता है कोई किसी अन्य रोग को। एक–एक तृणों में कैसी–कैसी शक्तियाँ हैं, इसका पता लगाना योगियों के अलावा किसी के वश की बात नहीं है। पुनश्यः किन–किन तृणों के मिलने से कितनी और किन–किन शक्तियों का विकास या विघटन होगा यह जानना और भी कठिन है।

उसी तरह वर्णों एवं मंत्रों की भी बात है। छप्पन वर्णों (ध्वनियों) के ही संश्लेष–विश्लेष से दुनिया की अपरगणित ग्रन्थ राशि तैयार हुई है। स्वर विशेष, विराम, टोन या तर्ज आदि के भेद से मंत्र जाप के प्रभाव का फर्क पड़ता है। शाबर मंत्रों के अक्षर अनमिल हैं, अर्थ और पुरश्चरण का संबंध नहीं है, फिर भी फल होता है।

सब यन्त्रों में सब औषधियाँ नहीं बन सकती। न सब पात्रों में रखी ही जा सकती हैं। वैसे ही भिन्न–भिन्न कर्म और भिन्न–भिन्न मंत्रों के भिन्न–भिन्न अधिकारी हैं। उपनयनादि संस्कार संपन्न प्राणी ही श्रुति, स्मृति आदि के अध्ययन का अधिकारी होता है। ब्राह्मण का मदिरापान और शूद्र का वेदाक्षर विचार उन दोनों के लिए हानिकारण होता है। त्रवणिकों के लिए प्रणव युक्त मंत्र और शूद्र, स्त्रियों के लिए प्रणवरहित मंत्र का ही जप विधान है। द्वादशाक्षर सर्वसिद्धि प्रदायक है।

ब्राह्मण अध्ययन–अध्यापन दोनों का अधिकारी है। क्षत्रिय–वैश्य वेदादि शास्त्रों के अध्ययन का अधिकारी है, अध्यापन का नहीं। शूद्र, स्त्री आदि इतिहास–पुराणादि का श्रवण करके उपासना, ज्ञान और अपने अधिकारानुसार कर्मों का ज्ञान प्राप्त करके प्रवृत्त हों, तो उसी से उनका कल्याण होगा।

इस दुनिया में जिस भी चीज का अस्तित्व है वह आचरण नहीं है। अस्तित्व का कारण कामना या डिजायर ही होता है। संसार में जो कुछ भी है वह ईश्वर की इच्छा एवं मर्जी के कारण ही है। संसार में जो कुछ भी है वह ईश्वरीय लीला का अंश है।

संसार में अस्तित्ववान हर चीज की ईश्वर की लीला में एक निश्चित भूमिका है। हर अस्तित्ववान चीज संसार में स्थित हर दूसरी चीज से ईश्वरीय योजना के अनुसार गहरे अर्थ में संबंधित है खासकर आस–पड़ोस में उपलब्ध चीजों में गहरा अंतःसंबंध पाया जाता है। इकोलॉजी या पर्यावरण पड़ोस की प्राकृतिक सीमा है।

इतना तक कि बीमारी, कीड़े, मकोड़े, गंदगी, अपराध, पाप, दुर्घटना की भी दैवीय न्याय में एक निश्चित सकारात्मक भूमिका होती है। इसको टुकड़ों में अंश के रूप में नहीं समझा जा सकता। इसको सम्पूर्णता के रूप में, जीवन के व्यक्त रूप में एक शरीर के विभिन्न अंग के रूप में ही समझा जा सकता है। समझने का कोई और उपाय नहीं है।

अर्जुन को गीता सुनने से समझ में नहीं आयी। तब श्रीकृष्ण ने अपना विश्वरूप दिखलाया। साम्प्रदायिक आचार्य अपने युग, भाषा और शिष्यों की मनोभूमि को ध्यान में रखकर अपनी गीता (=दर्शन/भाष्य) विकसित करते हैं। और विश्वरूप **(=ritual =sanskar=visual of the cosmos)** को एक फार्मूला या सगुण उदाहरण **(test case)** के रूप में विकसित करते हैं।

इसको सम्पूर्णता में चेतना की उच्चतम अवस्था में ही समझा जा सकता है। इस चेतना के बाद व्यक्ति मुक्त हो जाता है। वह शून्य में स्थित हो जाता है। यह निर्गुण की स्थिति है। यह सृजनरूप वेद=संसार के अंत (वेदांत=**transcendental consciousness)** की स्थिति है। इस अद्वैत वेदांत की स्थिति से विश्वरूप देखने की पात्रता बनती है। विश्वरूप देखने–समझने के बाद युगानुकूल सम्प्रदाय बनाने की पात्रता बनती है। इससे पहले परम शांति नहीं मिलती। इससे पहले जिज्ञासाओं, प्रश्नों, समस्याओं का समाधान नहीं मिलता। मौन नहीं सधता। काम, क्रोध, मोह, अहंकार से मुक्ति भी नहीं मिलती। भक्ति भी नहीं संभव हो पाती। व्यक्ति अपने स्वभाव और स्व धर्म में टिक भी नहीं पाता। विश्वास में स्थिरता नहीं आती। इससे पहले चीजें अंतरविरोधी, अवांक्षणीय एवं असंबद्ध दिखती हैं। इससे पहले सुधार, हस्तक्षेप की आवश्यकता महसूस होती है। इससे पहले व्यक्ति बिना कुछ किए बेचैन रहता हैं कुछ करने से कर्तव्य

का अभिमान होता है। बिना अपना दैवीय उपयोग खोए कुछ भी इस जगत, संसार या इकोलॉजिकल जोन या स्थानीय पर्यावरण से अनुपस्थित नहीं होता। संसार में जिस भी चीज की वास्तव में आवश्यकता है, वह प्रकृति में उपलब्ध है। (जब कोई चीज आप दिल से चाहते हैं तो सारी कायनात उसे पूरा करने में लग जाती है) जो चीज खो जाती है, चोरी हो जाती है, भूल जाती है या अपहरित हो जाती है, गहरे संरचनात्मक स्तर पर वह भी दैवीय न्याय या दैवीय लीला का ही प्राकृतिक रूप से वांक्षणीय रूप है।

अतः भक्त परेशान नहीं होते। वे अपने प्रभु=विश्वरूप को देख लेने के बाद समझ लेने के बाद, कर लेने के बाद परेशान नहीं होते। भक्त देखते हैं। ज्ञानी समझते हैं—सुनकर या पढ़कर। कर्मवादी अपने मुख्य कर्मकांड के स्वरूप के आधार पर विश्वरूप की अनुकृति की रचना कर लेते हैं और इस कर्म को नियमित साधना के रूप में करते रहते हैं।

इस दृष्टि से भक्ति मार्ग एवं दुनिया के सारे धार्मिक—सांस्कृतिक विमर्शों का काम आम आदमी को मूल प्रश्नों **(normenal questions)** की चिंता से मुक्त करके जिंदगी की जद्दोजहद (संसार) को प्रासंगिक बनाये रखने की है। इस संसार में हर पीढ़ी को अपनी जिन्दगी की जद्दोजहद नए सिरे से लड़नी पड़ती है। यह जिन्दगी केवल श्रीकृष्ण की लीला स्थली नहीं, सनातन युद्ध भी है जिसमें हर जीव अपने आप में अर्जुन है — दुविधाग्रस्त योद्धा। वह युद्ध नहीं लड़ना

चाहता, लेकिन उसे न सिर्फ लड़ना पड़ता है बल्कि किसी न किसी तरह जीतना पड़ता है। इस युद्ध में हम हारने के लिए भी स्वतंत्र नहीं हैं। रणछोड़ कर भागने के लिए श्रीकृष्ण की तरह कूबत (अवतारी पुरूष, पूर्णावतार) चाहिए। वर्ना रणछोड़ कर जान बचाना जिन्दगी भर सालती रहती हैं। कर्तव्य और अधिकार के युग्म से ही जिन्दगी अर्थपूर्ण बनती है। संसार के सारे विमर्श में पात्रता कर्तव्य और अधिकार के युग्म पर ही आधारित है। कर्तव्य से भागकर (रणछोड़ कर) आप न तो जिन्दगी में अधिकार पा सकते हैं, न सफलता, न चैन।

वर्णाश्रम धर्म का आधार भी कर्तव्य और अधिकार का युग्म ही है। बिना कर्तव्य निभाये आपको अधिकार नहीं मिलता। कर्तव्य आपके नियंत्रण में है, अधिकार भगवान या समाज के नियंत्रण में है (दूसरों के नियंत्रण में है)। अधिकार आपके कर्तव्य का फल है। आप जिस नीयत से जिंदगी जीते हैं वह आपके कर्तव्य और अधिकार भावना में अभिव्यक्त होता है। सोलह कलाओं से पूर्ण हुए बिना रण छोड़ने की कूबत (सामर्थ्य) आप में नहीं आती। रण छोड़ना सन्यास लेने जैसा मुश्किल कर्तव्य है। श्रीकृष्ण के रणछोड़ बनने में एक लीला–भाव है। यह आम मनुष्यों के बूते की बात नहीं है। ब्राह्मण वर्ण में आचार्य पूर्वपक्ष है, शिष्य उत्तर पक्ष है, विद्या संधि है और प्रवचन संधान है। कर्तव्य–अधिकार युग्म के ये चार पक्ष हैं। पश्चिमी परम्परा में थीसिस पूर्वपक्ष है, एंटीथीसिस उत्तर पक्ष है, सिन्थेसिस संधि है। पश्चिम में कर्तव्य–अधिकार युग्म के ये तीन पक्ष हैं। सनातन परम्परा में जिन्दगी के नौ

रस हैं जबकि पश्चिमी परम्परा में पांच रस हैं। अपनी–अपनी परम्परा में हर विमर्श एक न्याय संगत कर्तव्य अधिकार के युग्म की व्यवस्था रखती है ताकि आम आदमी जिन्दगी का आनंद ले सके। हर विमर्श एक फेनोमेनल (सांस्कृतिक रूप में निर्मित नाउमेनल सत्य से वंचित) यथार्थ होती है।

आप जब भी संकल्पित होते हैं ईश्वर आपके समर्पण की परीक्षा लेने के लिए लीला शुरू कर देते हैं और आपका चित्त चंचल हो जाता है। आज की शिक्षा व्यवस्था आपको वैचारिक रूप से वर्ण संकर बना देती है। वेदों में सात ऋषियों और 49 मरूत प्राणों का वर्णन है। सातों ऋषियों के मंडल बंटे हुए हैं। हर मंडल में देवता और विषय अलग–अलग हैं। उपवेद अलग–अलग हैं। हर ऋषि का कुल गोत्र और प्रवर चलता है। हर कुल का अपना व्यवसाय और प्रवृति होती है। कुल–गोत्र की विरासत व्यक्ति को चेतन, अवचेतन और अचेतन स्तर पर प्रभावित करता है।

श्रुति की शिक्षा नहीं दी जा सकती। स्मृति और पुराणों की शिक्षा दी जा सकती है। श्रुति गुरूमुखी विद्या है। यह केवल पुत्र और शिष्य को दी जा सकती है। यह विद्या ट्रांसप्लांट की जाती है अथवा शक्तिपात द्वारा उत्तराधिकार में दी जाती है। यह औपचारिक शिक्षा का विषय नहीं है। यह अनाधिकारी को नहीं दिया जा सकता।

वैदिक ऋचायें मध्यमा और पश्यंति के बीच की स्थिति में पहुंचने पर खुलती हैं। मध्यमा और पश्यंति वाक् की बीच की स्थिति है जिसे परा, पश्यंति, मध्यमा और बैखरी कहते हैं।

बैखरी बोला हुआ निम्नतम वाक् है और परा वाक् की उच्चतम स्थिति है। वेदों के युग के बाद दर्शन का युग शुरू हुआ। पहला दार्शनिक सम्प्रदाय बौद्धों ने विकसित किया। वैदिक दर्शनों का व्यवस्थित विकास वेदांगों के आधार पर बाद में हुआ है। वेदांग भी छः हैं और वैदिक दर्शन भी छः ही हैं।

हर व्यक्ति में 23 क्रोमोजोम माँ का और 23 क्रोमोजोम पिता का होता है। इसलिए हर व्यक्ति अर्धनारीश्वर है। हर व्यक्ति नीलकंठ है। हर व्यक्ति का गर्दन उसके पूरे शरीर से सांवला होता है। हर व्यक्ति का गर्दन भोजन के प्रदूषण (जहर) का अधिकांश भाग गर्दन में ही रख लेता है केवल 10 प्रतिशत जहर अंदर जाता है जिससे बीमारी एवं बुढ़ापा आता है।

गंगा के पानी में पोटाशियम अधिक मात्रा में होता है जिससे ब्रेन तेज होता है। इसीलिए भारतीय संस्कृति में, खासकर उत्तर भारत में, गंगा के पानी अथवा गंगाजल का इतना ज्यादा महत्व है। इसे पवित्रतम जल माना जाता है और इसकी कुछ बूंदें शरीर पर छींट लेने से आदमी पवित्र हो जाता है। सावन महीने में भगवान शिव के ऊपर गंगाजल से अभिषेक करने का रिवाज है। मरते हुए व्यक्ति को अंतिम समय में गंगाजल दिया जाता है ताकि उसकी आत्मा मुक्त हो सके।

अध्याय 9
भारत में परिवार एवं नातेदारी

परिवार

मानव समाज में परिवार एक बुनियादी तथा सार्वभौमिक इकाई है। यह सामाजिक जीवन की निरंतरता, एकता एवं विकास के लिए आवश्यक प्रकार्य करता है। अधिकांश पारंपरिक समाजों में परिवार सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, आर्थिक एवं राजनैतिक गतिविधियों एवं संगठनों की इकाई रही है। आधुनिक औद्योगिक समाज में परिवार प्राथमिक रूप से संतानोंत्पत्ति, सामाजीकरण एवं भावनात्मक संतोष की व्यवस्था से संबंधित प्रकार्य करता है।

समाजशास्त्री दो अर्थों में परिवार की चर्चा करते हैं – (क) एक खास प्रकार के वस्तुगत तथ्य (सामाजिक यथार्थ) के रूप में तथा (ख) एक विश्लेषणात्मक अवधारणा के रूप में। वस्तुगत तथ्य के रूप में अलग–अलग समुदायों तथा अलग–अलग क्षेत्रों में परिवार की संरचना बदलती रहती है। विश्लेषणात्मक अवधारणा के रूप में परिवार एक सार्वभौमिक संस्था है। यह माता–पिता एवं उनके बच्चों के समूह का प्रतीक है। यदि माता–पिता अपने अव्यस्क (आर्थिक एवं भावनात्मक रूप से परतंत्रा, सामान्यतः अविवाहित) बच्चों के साथ रहते हैं तो इसे नाभिकीय या प्राथमिक परिवार कहते हैं।

यदि माता–पिता अपने व्यस्क बच्चों और उनके जीवन–साथियों के साथ रहते हैं तो उसे संयुक्त परिवार कहते हैं। एक विश्लेषणात्मक अवधारणा के रूप में परिवार प्राथमिक रूप से सभी मानव समुदायों में वैध यौन संबंध तथा स्वीकृत तरीके से संतनोत्पत्ति से संबंधित होता है। आधुनिक औद्योगिक तथा नगरीय समाजों में परिवार नातेदारी–समूह के निर्माण का प्रमुख सिद्धांत तय करता है परन्तु पारंपरिक समाजों में परिवार नातेदारी संगठन के सिद्धांतों एवं रक्त तथा पुत्रत्व (फिलिएशन) के सिद्धांतों द्वारा अनुशासित होता है।

वैवाहिक संबंध को केन्द्र में रखकर विकसित समूह में दंपत्ति और उनके ऊपर निर्भर बच्चों की सदस्यता होती है। इसे नाभिकीय या दंपत्ति परिवार कहा जाता है। इस प्राथमिक परिवार के संगठन का आधार दाम्पत्य संबंध होता है। जबकि संयुक्त परिवार के संगठन का आधार प्राथमिक रूप से परिवार में संबंधों के आपसी विश्वास पर निर्भर करता है।

समाजशास्त्री पितृवंशीय एवं मातृवंशीय परिवारों की भी चर्चा करते हैं। एक पितृवंशीय परिवार पिता और उसके बच्चों से मिलकर बनता है तथा बच्चे पिता के नाम से जाने जाते हैं। विवाह के बाद बेटी अपने पति के साथ रहने जाती है तथा बेटे की पत्नी सास–ससुर और पति के साथ रहने आती है। पारिवारिक संपत्ति का हस्तांतरण पिता से पुत्रों के हाथ में होता है। दूसरी और, मातृवंशीय परिवार की संरचना 'माँ' और उसके बच्चों के मिलने से होती है और बच्चे अपनी माँ के नाम से जाने जाते हैं। विवाह के बाद पति या तो अपनी पत्नी

और उसके परिवार के साथ रहने जाता है या कुछ समाजों में अपनी बहन के साथ रहता है। पारिवारिक संपत्ति का हस्तांतरण् मां से बेटी के हाथ में होता है पर सामान्यतः यह मामा की देख–रेख (प्रबंध) में होता है। प्रबंधन का अधिकार मामा से भांजे को हस्तांतरित होता है। पितृवंशीय परिवार नाभिकीय या संयुक्त दोनों में से कोई भी हो सकता है, परन्तु मातृवंशीय परिवार अधिकांशतः संयुक्त होता है।

भारत में परिवार

आई.पी. देसाई के अनुसार नाभिकीय परिवार के रूप में परिवार की अवधारणा अब भी भारतीय अवधारणा नहीं है। एक आम भारतीय के लिए परिवार का मतलब वही है जो अँग्रेजी भाषा में संयुक्त परिवार का होता है। इसी तरह, ए.एम शाह जैसे समाजशास्त्रियों ने एक सांस्कृतिक मूल्य के रूप में संयुक्त परिवार एवं एक निवास स्थान या घराना के रूप में संयुक्त परिवार की अवधारणा में अंतर स्पष्ट किया है। पारंपरिक भारत में नाभिकीय घरों का अस्तित्व तो रहा है परंतु नाभिकीय परिवार कभी भी एक सांस्कृतिक मूल्य नहीं रहा। अधिकांश भारतीयों के लिए संयुक्त परिवार ही पारिवारिक जीवन का आदर्श प्रतिमान रहा है।

भारत के विभिन्न क्षेत्रों में समकालीन समाजशास्त्रियों ने यह पाया है कि नाभिकीय परिवार या घर संयुक्त परिवार के चक्रिय विकास की एक अवस्था भर है। यह सब पुरानी पीढ़ी की मृत्यु एवं नई पीढ़ी के जन्म की स्वभाविक (प्राकृतिक)

प्रक्रिया से जुड़ा हुआ है। यह चक्र करीब–करीब 30 वर्षों में पूरा हो जाता है एवं उसके बाद एक नया चक्र शुरु होता है।

इरावती कर्वे ने भारत में संयुक्त परिवार की परिभाषा देते हुए कहा है कि संयुक्त परिवार लोगों का ऐसा समूह है जो एक छत के नीचे रहते है, एक रसोई का बना हुआ खाना खाते हैं, एक तिजोरी में संपत्ति रखते हैं, पारिवारिक पूजा में सामूहिक रूप से भाग लेते हैं तथा एक–दूसरे से एक विशेष प्रकार के नातेदारी संबंध से जुड़े होते हैं।

दूसरी ओर, आई.पी देसाई का कहना है कि संयुक्त परिवार के लिए संयुक्त निवास स्थान या संयुक्त रसोई का होना उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना की उनके अतः पारिवारिक संबंध। देसाई ने भारत में पारिवारिक जीवन के पांच प्रकारों की चर्चा की है :–

(क) *नाभिकीय परिवार* – सबसे छोटा परिवार जिसमें पति, पत्नी एवं उनके अविवाहित बच्चे रहते हैं।

(ख) *प्रकार्यात्मक संयुक्त परिवार* – जब रक्त संबंधों वाले दो परिवार अलग–अलग रहते हैं परंतु एक संयुक्त अधिकारी (कर्त्ता) के तहत प्रकार्य करते हैं तो इसे प्रर्कायात्मक संयुक्त परिवार कहा जाता है।

(ग) *प्रकार्यात्मक एवं वास्तविक संयुक्त परिवार* – जब एक प्रकार्यात्मक संयुक्त परिवार संपत्ति की दृष्टि से भी

संयुक्त होता है, तो इसे प्रकार्यात्मक एवं वास्तविक संयुक्त परिवार कहा जाता है।

(घ) *सीमांत संयुक्त परिवार* – जब दो पीढ़ियों के परिवारिक सदस्य प्रकार्यात्मक एवं वास्तविक रूप से साथ रहते हैं तो इसे सीमांत संयुक्त परिवार कहा जाता है।

(ङ) *पारंपरिक संयुक्त परिवार* – जब तीन या अधिक पीढ़ियों के लोग एक निवास स्थान में रहते है, सम्मिलित रूप से संपत्ति के स्वामी होते हैं एवं पारिवारिक अनुष्ठानों में सामूहिक रूप से भाग लेते हैं तो इसे पारंपरिक संयुक्त परिवार कहते हैं।

भारत वर्ष में संयुक्त और नाभिकीय घराना तथा संयुक्त परिवार के सांस्कृतिक प्रतिमान साथ–साथ स्थित रहें हैं, अब परिवार की संरचना तथा संयुक्तता की भावना की मात्रा में परिवर्तन आ रहा है।

समकालीन भारत में परिवार

भारत के अधिकांश सामाजिक–धार्मिक एवं सांस्कृतिक समूहों में संयुक्त परिवार एक सांस्कृतिक मूल्य रहा है, व्यावहारिक स्तर पर नाभिकीय घरों का प्राचीन काल से ही अस्तित्व रहा है। आज नगरीकरण, स्थानांतरण, औद्योगिकीकरण्, पश्चिमी शिक्षा के प्रसार एवं पश्चिमीकरण की

प्रक्रिया जैसे कारकों ने एक नए प्रकार के घर एवं परिवार का भारत में विकास किया है। इन कारकों ने संरचनात्मक दृष्टि से भारत में संयुक्त परिवार को समाप्त तो नहीं किया है, परन्तु इनके कारण पहले से ही कायम नाभिकीय घरों एवं परिवारों के व्यावहारिक चलन को निःसंदेह बल मिला है। इसके साथ–साथ, एक हद तक नाभिकीय परिवार के रूप में एक वैकल्पिक सांस्कृतिक मूल्य का भी प्रसार हुआ है। आधुनिक संचार के साधनों ने भी नाभिकीय परिवार के नए सांस्कृतिक मूल्य के प्रसार में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है।

जनांकिकीय कारकों ने, दूसरी ओर, संयुक्त परिवार एवं संयुक्त घर की संस्था को मजबूत किया है। जनगणना के आंकड़े एवं नृजातीय अध्ययनों से यह ज्ञात हुआ है कि भारतीय घरों के औसत आकार में आई बढ़ोतरी बुजुर्ग सदस्यों की बढ़ी संख्या के कारण है न कि बच्चों की बढ़ी संख्या के कारण। कई कारणों से पहले भारत में एक व्यक्ति की औसत आयु इतनी कम हुआ करती थी कि संयुक्त घरों का बनना या लंबे समय तक उनका संयुक्त रहना जनांकिकीय (जनसांख्यिकीय) रूप से संभव नहीं था। चिकित्सा की सुविधाओं के बढ़ने एवं अन्य कारकों के कारण अब एक व्यक्ति की औसत आयु में काफी बढ़ोतरी हुई है। फलस्वरूप लंबे समय तक संयुक्त परिवार का बने रहना अब संभव हो गया है।

ए.एम. शाह का कहना है कि सामान्यतः घर का औसत आकार ग्रामीण इलाकों की तुलना में शहरों में छोटा रहा है, 1951 से ही यह शहरी तथा ग्रामीण दोनों इलाकों में बढ़ रहा

है परंतु शहरी समाज के एक वर्ग में खासकर महानगरों में, छोटे आकार के नाभिकीय परिवार एवं घर एक संस्था के रूप में स्वीकृत हो रहे हैं। नाभिकीय परिवार पश्चिमीकरण से गुजरता हुआ मध्यम वर्ग, पेशेवर वर्ग (प्रोफेशनलस) तथा महानगरों में रहने वाली ऊँची जातियों तक सीमित है। महानगरों में रहने वाला मध्यम वर्ग भारतीय समाज का आधुनिक एवं तेजी से विकसित होने वाला वर्ग है। यह पश्चिमी शैली के व्यक्तिवादी विचारधारा के सबसे अधिक प्रभाव में रहने वाला वर्ग है। इस वर्ग में बेटियों के प्रति उदार दृष्टिकोण विकसित हुआ है जिसके परिणामस्वरूप पुत्र का अभाव विशेष चिंता का विषय नहीं होता।

मध्यमवर्ग के पेशेवर लोगों ने छोटे परिवार के मूल्य को स्वीकार कर लिया है। फलस्वरूप, इस वर्ग ने एक या दो संतान के आदर्श को व्यवहार में लाना शुरू कर दिया है। विवाह के बाद बच्चे आवश्यक रूप से अपने माता–पिता के साथ संयुक्त निवास स्थान (घर) में नहीं रहते। इस वर्ग के लोगों में ज्यादा उम्र में विवाह करने का चलन व्याप्त है एवं विवाह के बाद पुत्र तथा पुत्रवधु का कार्यस्थल माता–पिता के निवास स्थान से सामान्यतः काफी दूर हो सकता है। ये लोग संयुक्त परिवार के आदर्श को मानते हुए भी संयुक्त घरों में लंबे समय तक नहीं रह पाते हैं।

छोटे नाभिकीय घरों में निम्नलिखित विशेषताएं पायी गई हैं :–

1. छोटे आकार के घर सदस्यों को ज्यादा स्वतंत्रता एवं स्वावलंबन प्रदान करते है।
2. ऐसे घरों में संयुक्त घरों की तुलना में व्यक्ति ज्यादा उत्तरदायित्व महसूस करता है।
3. पेशेवर मधयमवर्ग के लिए शहरी परिवेश में ऐसे घर आर्थिक रूप से ज्यादा सुविधाजनक बन गए हैं।
4. समकालीन परिवेश में नाभिकीय घर संकट की स्थिति से निबटने में ज्यादा अनुकूल पाए गए है। बीमा, बैंकिंग तथा चिकित्सालयों जैसी आधुनिक सुविधाओं ने संयुक्त परिवारों द्वारा दिए जाने वाले पारंपरिक सुरक्षा एवं सुविधाओं को संपन्न पेशेवर वर्गों के लिए कम आकर्षक बना दिया है।
5. बच्चों के दृष्टिकोण से नाभिकीय घरों के लाभदायक और हानिदायक दोनों आयाम हैं। मनोवैज्ञानिकों एवं समाजवैज्ञानिकों ने बच्चों के विकास में दादा–दादी एवं अन्य वरिष्ठ संबंधियों की महत्त्वपूर्ण भूमिका को स्वीकार किया है। कभी–कभी नाभिकीय घरों में माता–पिता दोनों बाहर काम करते हैं। फलस्वरूप बच्चे काफी अकेलापन एवं चिंता महसूस करते हैं। उन्हें नौकरों, घर की देखभाल करने वालों, क्रीड़ा–विद्यालय एवं अन्य औपचारिक माधयमों पर निर्भर रहना पड़ता है। कई बार इसके चलते उन्हें भावनात्मक दबाव झेलना पड़ता है और उनका व्यक्तित्व भावनात्मक रूप से निरीह हो जाता है। परंतु अधिकांशतः बच्चे इन परिस्थितियों

को झेलना सीख जाते हैं और उनमें स्वतंत्रता एवं व्यक्तिवाद की भावना विकसित हो जाती है।

ज्यादातर भारतीय आज भी संयुक्त घरों में रहते हैं तथा संयुक्त परिवार का आदर्श आज भी कायम है। समकालीन दबाव में संयुक्तता का सांस्कृतिक भाव एवं सदस्यों के बीच भावनात्मक जुड़ाव कमजोर पड़ने लगा है। परिवार के मुखिया कर्त्ता का नैतिक अधिकार भी कमजोर हो गया है। आजकल पारिवारिक निर्णय विचार–विनियम या समझौते की एक प्रक्रिया के तहत होता है। भारतीय संसद ने परिवार के महिला सदस्यों के हितों की रक्षा के लिए कई विधेयक पास किये हैं। शिक्षा ने भी बच्चों तथा महिलाओं का सबलीकरण किया है। फलस्वरूप, संयुक्त परिवार के मूल्य आदर्श एवं प्रथाएँ तेजी से बदल रही हैं। संयुक्त घरों को बदलते हुए मूल्यों एवं प्रथाओं के साथ अनुकूलन स्थापित करना पड़ रहा है। इन परिवर्तनों की छाया पिछले दो दशकों के सिनेमा एवं टेलिविजन माध्यमों से देखने को मिल सकती है क्योंकि सिनेमा तथा टेलिविजन के कार्यक्रमों ने आधुनिक संदर्भ में संयुक्त परिवार तथा घर के बदलते आयामों को अक्सर अपना विषय–वस्तु बनाया है। कुल मिलाकर, संयुक्त परिवार तथा घर की संस्था में अनुकूलन स्थापित करने की दृष्टि से प्रकार्यात्मक परिवर्तन ज्यादा हो रहे हैं। भारतीय समाज तथा संस्कृति का लचीलापन परिवार रूपी संस्था में आज भी देखने को मिलता है। संरचनात्मक दृष्टि से

संयुक्त परिवार का आदर्श और संयुक्त घराने की उपयोगिता में ज्यादा परिवर्तन नहीं हुआ है।

भारत में नातेदारी व्यवस्था

भारत में नातेदारी व्यवस्था विवाह से संबंधित प्रथाओं एवं रीतियों की विविधता को अभिव्यक्त करती है। अखिल भारतीय स्तर पर भारत में नातेदारी के बारे में सामान्यीकरण करना संभव नहीं है। भारत में एक संगठन के रूप में नातेदारी व्यवस्था काफी हद तक क्षेत्रीय संस्कृति का एक आयाम है। इरावती कर्वे ने भारत में नातेदारी व्यवस्था के चार क्षेत्रों (उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम) की चर्चा की है। कई अन्य लोग भारत में दो नातेदारी व्यवस्थाओं की चर्चा करते हैं : उत्तर भारतीय नातेदारी व्यवस्था एवं दक्षिण भारतीय नातेदारी व्यवस्था। उत्तर भारतीय एवं दक्षिण भारतीय नातेदारी व्यवस्थाएँ आर्य एवं द्रविड़ नातेदारी व्यवस्था के रूप में भी जानी जाती हैं।

उत्तर भारतीय एवं दक्षिण भारतीय नातेदारी व्यवस्थाएँ

दक्षिण भारतीय क्षेत्र में एक खास प्रकार के करीबी रिश्तेदारों, खासकर ममेरे–फुफेरे भाई–बहनों में विवाह विशेष रूप से पसन्द किया जाता है। परन्तु चचेरे या मौसेरे भाई–बहनों का विवाह कभी नहीं होता। कुल मिलाकर पति–पत्नी के माता–पिता (या आपस में विवाह करने वाले

समूहों) की प्रस्थिति बराबर होती है। अक्सर दोनों समूह भौगोलिक रूप से एक–दूसरे के काफी नजदीक होते हैं, कई बार तो एक ही गाँव में रहते हैं। दुल्हन अपने विवाह संबंधियों से पूर्व परिचित होती है। दक्षिण भारत में नये वैवाहिक संबंध के द्वारा पूर्व स्थापित नातेदारी संबंध मजबूत बनते हैं परंतु नातेदारी का दायरा विस्तृत नहीं होता।

इसके विपरीत, उत्तर भारत में ममेरे–फुफेरे भाई–बहनों के बीच विवाह को स्वीकृति नहीं है। सच तो यह है कि उत्तर भारत में पहले से नजदीकी नातेदारी संबंधों में बंधे लोगों के बीच वैवाहिक संबंध का निषेध है। सामान्यतः एक गाँव या शहर के लोग भौगोलिक रूप से काफी दूर–दूर विवाह करना पसन्द करते हैं। ज्यादातर लोग ग्राम बहिर्विवाह के नियम को भी मानते हैं। इस क्षेत्र में नातेदारी संबंध के दायरे को विस्तृत करने पर जोर दिया जाता है न कि पूर्व स्थापित संबंधों के दायरे को ज्यादा गहरा करने पर। उत्तर भारतीय नातेदारी व्यवस्था में दुल्हन पति के परिवार में एकदम अपरिचित की तरह आती है। अपने वैवाहिक संबंधियों के द्वारा किए गये असहिष्णुतापूर्ण व्यवहार के कारण वह कभी–कभी काफी निरीह महसूस करती है। उत्तर भारत में ऐसे विवाह सामान्यतः सामाजिक रूप से असमान सामाजिक परिस्थिति वाले समूहों को जोड़ते हैं। वर – मूल्य की प्रथा (डाउरी) के कारण कन्या पक्ष और दुल्हन को प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से कई समस्यायें झेलनी पड़ती है।

समकालीन भारत में नातेदारी

नातेदारी संबंध ज्यादातर भारतीयों के लिए आज भी महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं। संकट काल में ज्यादातर भारतीय प्राथमिक रूप से अपने नातेदारी संबंधों पर ही भरोसा करते हैं। जब किसी संबंधी की मृत्यु होती है तो नातेदारी से जुड़े सभी स्त्री–पुरूष शोक संतप्त परिवार को सहयोग देने के लिए तत्पर रहते हैं। जब कोई व्यक्ति किसी नये स्थान में प्रव्रजन करता है तो वह सबसे पहले अपने रक्त या विवाह संबंधियों को ही संपर्क करता है। जब किसी व्यक्ति को नौकरी की आवश्यकता होती है तो उसके संबंधियों द्वारा हर संभव मदद की जाती है। जब वह किसी नई जगह में जाता है तो शुरू में वह अपने संबंधियों के यहां ही ठहरता है। जब उसे विवाह करना होता है तो उसके विवाह के लिए प्रस्ताव उसके नातेदारी संबंधियों की मध्यस्था से ही आता है। इसी प्रकार जब किसी परिवार में विवाह संपन्न होता है तो नातेदार ही दूल्हे तथा दुल्हन को उपहार देने का आवश्यक कर्त्तव्य निभाते हैं। अधिकांश भारतीयों के जीवन में नातेदारी सामाजिक एवं सांस्कृति जीवन की रूपरेखा प्रस्तुत करता है। जाति, वर्ग एवं पड़ोस भी महत्त्वपूर्ण होता है परंतु नातेदारी की भूमिका इनमें से किसी से भी ज्यादा प्रभावकारी होती है।

विवाह, परिवार एवं नातेदारी समाजशास्त्र में सर्वाधिक अध्ययन की गई संस्थाओं में से है। नातेदारी शब्द को संक्षेप में 'नातेदारी एवं विवाह' के लिए सम्मिलित रूप में प्रयोग किया जाता है। पारिवारिक संबंध रक्तसंबंध एवं विवाह द्वारा स्थपित होते हैं। अंग्रेजी में इसके लिए कैंसग्विन तथा विवाह संबंधियों के लिए 'एफाइन' शब्द है। इस प्रकार माता–पिता और बच्चों के बीच रक्त संबध एवं पति–पत्नी के संबंध वैवाहिक होते हैं। विवाह परिवार की आधारशिला है जबकि परिवार सामाजिक जीवन की आधारशिला है। परिवारिक एवं वैवाहिक संबंधों का संयोग नातेदारी का निर्माण करता है।

भारतीय समाज कई धार्मिक एवं सांस्कृतिक समूहों में बंटा हुआ है। फलस्वरूप विवाह, एवं नातेदारी के मामलों में काफी विविधताएँ है। हर धार्मिक समूह की विवाह की दृष्टि से अपनी प्रथाएँ एवं प्रणालियाँ हैं। विवाह एवं नातेदारी क्षेत्रीय संस्कृतियों के पक्ष हैं। अतः अखिल भारतीय स्तर पर इनका सामान्यीकरण नहीं किया जा सकता तथापि भारत में विभिन्न प्रकार की विवाह पद्धतियों से भी प्रायः एक ही प्रकार के आदर्श परिवार का स्वरूप विकसित होता रहा है, इसे सामान्यतः संयुक्त परिवार कहा जाता है। संयुक्त परिवार भारत में विस्तृत नातेदारी संबंधों की एक इकाई रही है।

सामाजशास्त्रियों ने सामान्यतः भारतीय जीवन में विवाह एवं नातेदारी का अध्ययन हिन्दुओं, मुसलमानों, ईसाईयों एवं जनजातियों के संदर्भ में किया है। परन्तु विवाह एवं नातेदारी विषयक नृजातीय विविधताओं के बावजूद समाजशास्त्रियों ने

पारिवारिक संगठन में भारतीय स्तर पर बहुत ज्यादा समानता पाई है। भारत में विवाह, परिवार एवं नातेदारी के बारे में कुछ विस्तृत चर्चा आवश्यक है।

भारत में संयुक्त घराना

भारत वर्ष में संयुक्त और नाभिकीय घराना तथा संयुक्त परिवार के सांस्कृतिक प्रतिमान साथ–साथ स्थित रहे हैं, अब संयुक्तता की भावना की मात्रा में परिवर्तन आ रहा है।

संयुक्त घराना की संरचनात्मक विशेषताएँ

1. सामान्य निवास स्थान एवं रसोई – सभी सदस्य एक छत के नीचे रहते हैं। विभिन्न भाइयों एवं उनके परिवार वालों के उपयोग के लिए सम्पूर्ण निवास स्थान कई छोटे कमरों में बंटा हुआ होता है। साथ रहने से परिवार के विभिन्न सदस्यों के बीच सामूहिक भावना विकसित होती है। पूरे घर के लिए एक ही रसोई घर होता है। प्रायःकर्ता की पत्नी रसोई घर की व्यवस्थापिका होती है।
2. बड़ा आकार : इसमें कई लोग साथ रहते है। इसमें तीन या अधिक पीढ़ियों के लोग एक साथ रह

सकते हैं। जिसके दादा–दादी, पोता–पोती, चाचा, ताऊ, चचेरे भाई बहन इत्यादि एक साथ रहते हैं।

3. सामान्य सम्पत्तिः परिवार की चल व अचल संपत्ति में सभी सदस्यों का अधिकार होता है। सभी लोग अपनी क्षमता के अनुसार काम करते हैं तथा पारिवारिक आमदनी को एक सामूहिक कोष में जमा किया जाता है। संयुक्त परिवार का धन तथा वस्तुएँ सामूहिक रूप से अर्जित तथा खर्च की जाती हैं। परिवार का मुखिया जिसे कर्ता कहा जाता है इसका व्यवस्थापक बना रहता है। परिवार का प्रत्येक पुरूष सदस्य परिवार की पारिवारिक संपत्ति का कानूनी सह–स्वामी होता है।

भारत में संयुक्त घराना की प्रकार्यात्मक विशेषताएँ

1. सामूहिक कर्मकाण्ड तथा उत्सव – हर संयुक्त घराना के अपने रीति–रिवाज तथा कर्मकाण्ड होते हैं, जिसका निर्धारण जाति मूल्यों तथा धार्मिक कर्तव्यों के आधार पर किया जाता है। सामूहिक पूजा पद्धति का पीढ़ी–दर–पीढ़ी हस्तांतरण होता है। इससे परिवार के अंदर एकता एवं आत्मीयता बढ़ती रहती है। जिस सामान्य देवता का पूजन किया जाता है उसे कुल देवता कहा जाता है।

2. कर्ता की भूमिका : घर में निर्णय लेने तथा शांति एवं अनुशासन कायम रखने की जिम्मेदारी या अधिकार मूलतः 'कर्ता' का होता है। आर्थिक उपार्जन करने वाले सभी सदस्य अपनी आमदनी कर्ता के पास जमा करते हैं एवं घर की संपूर्ण संपत्ति पर भी उसी का नियंत्रण होता है। पारिवारिक उत्सव एवं धर्मानुष्ठान भी उसी के मार्गदर्शन एवं अभिभावकत्व में संपन्न होता है। घरेलू झगड़ों का भी वही निवारण करता है। संक्षेप में कर्ता संयुक्त घराने का न्यासी होता है और उसे निर्विवाद अधिकार प्राप्त होते हैं।
3. आपसी कर्तव्यः संयुक्त घराना के सदस्य एक–दूसरे के प्रति आपसी कर्तव्य से बंधे होते हैं। कोई एक–दूसरे के हितों के खिलाफ काम नहीं करता। सभी सदस्य एक दूसरे के प्रति उत्तरदायी होते हैं तथा आपसी समझ, प्रेम उभयनिष्ट संबंध एवं सहयोगात्मक भाव से जुड़े होते हैं। ये बंधन तथा संबंध परिवार को कायम रखने वाली शक्तियाँ हैं। संपूर्ण परिवार के हित के संदर्भ में व्यक्ति के हितों को गौण माना जाता है।
4. समाजवादी व्यवस्था – यह समाजवादी मूल्यों पर आधारित प्रकार्यात्मक इकाई है। हर सदस्य घराने की भलाई के लिए काम करता है। घराना के सभी सदस्यों के बीच अधिकारों एवं सुविधाओं का समान

बंटवारा होता है। हर सदस्य अपनी क्षमता के अनुसार अपना योगदान करता है तथा अपनी आवश्यकता के अनुसार घराना से प्राप्त करता है।

संयुक्त घराना के प्रकार प्रकार्य

भारतीय संयुक्त परिवार व्यवस्था या घराना भारतीय सामाजिक संगठन की रीढ़ समझी जाती है। सामाजिक संगठन की एक व्यवस्था के रूप में यह कई शताब्दियों से आज तक कायम रही है। फलस्वरूप हम कह सकते हैं कि यह प्राचीन संस्था समाज की दृष्टि से लाभदायक प्रकार्य करती रही है। संयुक्त घराना के लाभदायक प्रकार्यों में से कुछ की चर्चा की जा सकती है।

पुनरूत्पादन – परिवार या घराना सामान्यतः जैविक पुनरूत्पादन का विधि सम्मत स्थान है। मानवीय उत्पादकता एवं पुनरूत्पादकता काफी हद तक परिवार के द्वारा निर्धारित होती है। बच्चों के लालन–पालन की जिम्मेदारी विस्तृत नातेदारी समूह द्वारा मिल बांट कर निभायी जाती है। परिणामस्वरूप, ज्यादा बच्चे समूह के लिए लाभदायक माने जाते हैं, जो अपने माता–पिता के बुढ़ापे का सहारा बनते हैं।

सामाजीकरण–पुनरूत्पादन में अपनी भूमिका निभाने की तरह ही, परिवार समाजीकरण का प्रथम एवं प्राथमिक माध्यम है। छोटे बच्चों को सतत् अनुशासन एवं मार्गदर्शन में रखा जाता है। परिवार अपने सदस्यों को सहिष्णुता के गुण, सहयोग, बलिदान, सहानुभूति जैसे मूल्यों को सिखाता है। यह

बच्चों को अपने बड़ों की सेवा करना सिखाता है। यह अपने सदस्यों को व्यस्क, उत्तरदायी, सम्पूर्ण प्रक्रिया में यह अपने सदस्यों को पारंपरिक मूल्यों के आधार पर स्त्री और पुरूष के रूप में अपने अधिकार और कर्तव्य सीखने पर जोर देता है। परिवार अपने बच्चों की शिक्षा, नौकरी एवं विवाह के बारे में काफी दिलचस्पी लेता है तथा यह युवा पीढ़ी के सामाजिक नियोजन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

सामाजिक नियंत्रण का साधन – संयुक्त घराना एक स्वयं शासित प्रशासनिक इकाई है जो कर्ता के मार्गदर्शन में कार्य करती है। कर्ता को असंदिग्ध अधिकार प्राप्त होता है जिसे केवल अधिकार के दुरूपयोग की स्थिति में चुनौती दी जा सकती है। यह सामाजिक नियंत्रण के अनौपचारिक साधन के रूप में काम करता है। परिवार के वरिष्ठ सदस्य छोटे बच्चों की अनुशासनहीनता एवं असामाजिक गतिविधियों पर नियंत्रण रखते हैं। परिवार यह व्यवस्था करता है कि इसके सदस्य सदाचारी एवं अनुशासित व्यक्ति बनें।

कल्याण–संयुक्त घराना का एक प्रमुख कर्तव्य छोटे बच्चों, अपाहिजों, बीमार लोगों एवं बुजुर्गों की सेवा एवं उपचार करना है। यह अबोध बच्चों, गर्भवती महिलाओं एवं दूध पिलाने वाली माताओं की विशेष देख–भाल करता है। संयुक्त परिवार व्यवस्था अपने सदस्यों को खासकर, संकट के समय में अधिकतम सुरक्षा देने में ज्यादा समर्थ होता है। इस तरह, संयुक्त परिवार अपने सदस्यों के लिए एक सहायक, मित्रतापूर्ण सामाजिक वातावरण का निर्माण करता है। यह मनोरंजन तथा

सांस्कृतिक गतिविधियों में भाग ले सकने का अवसर भी प्रदान करता है।

उत्पादन, वितरण तथा उपभोग–उत्पादन की पारिवारिक व्यवस्था का आधार स्त्री–पुरूष के बीच लैंगिक श्रम विभाजन होता है। यह श्रम विभाजन घर के अंदर और बाहर दोनो जगह महत्वपूर्ण है। स्त्रियाँ सामान्यतः घरेलू एवं उत्पादन से संबंधित क्रियाकलापों में योगदान करती हैं। पुरूष लोग सार्वजनिक क्षेत्र (घर के बाहर) में कार्य करते हैं और घर की आमदनी में योगदान करते हैं। परन्तु हाल के वर्षों में इस लैंगिक श्रम–विभाजन की आलोचना बढ़ रही है।

संयुक्त परिवार उपभोग की एक सम्पूर्ण इकाई है। इसका अर्थ है कि परिवार को काफी बड़ी मात्रा में सस्ती कीमत पर उपभोक्ता वस्तुओं को खरीद कर आर्थिक रूप से समुचित व्यवस्था करनी पड़ती है। गैर–उपभोक्ता वस्तुओं का सदुपयोग परिवार के सभी सदस्य आपस में मिल बांट कर करते हैं। परिवार के सभी सदस्य अपनी आमदनी एक साथ मिलाकर सम्पूर्ण परिवार की आवश्यकता के अनुसार खर्च करते हैं।

संयुक्त घराना के अकार्य

अनेक प्रकार्यो के साथ–साथ, संयुक्त परिवार अथवा घराना की संरचना में कई अकार्य भी देखने में आते हैं।

समाजशास्त्रियों द्वारा निम्नलिखित अकार्यों की चर्चा की गई है:–

संयुक्त घर छोटी–छोटी बातों पर संघर्ष का केंद्र होता है। सदस्यों के बीच में आपसी तालमेल, समायोजन तथा सात्मीकरण का सामान्यतः अभाव होता है। मतभेद एवं कटुता से आंतरिक अंतर्विरोध पैदा होता है। जो संयुक्त घराने के विघटन के लिए रास्ता तैयार करता है।

संयुक्त घराने को सदस्यों के स्वतंत्र व्यक्तित्व के विकास में बाधा माना जाता है। सामान्यतः घर का मुखिया सारे महत्त्वपूर्ण निर्णय खुद लिया करता है फलस्वरूप हर व्यक्ति की पसंद या नापसंद का ख्याल रखना संयुक्त घर में संभव नहीं हो पाता। इस तरह स्वतंत्र रचनात्मक संभावना का पूरी तरह विकास एवं दोहन नहीं हो पाता।

कभी–कभी नये विवाहित जोड़ी के बीच आत्मीयता का विकास नहीं हो पाता फलस्वरूप मनोवैज्ञानिक असंतोष एवं नासमझी का माहौल रहता है। संयुक्त परिवार व्यवस्था के अंतर्गत विवाहित युवा स्त्रियों का अधिकांश समय घर के सभी सदस्यों की आवश्यकता पूर्ति में खर्च होता है। इसके कारण उन्हें उचित तरीके से अपने स्वास्थ्य पर ध्यान देने या आनंद उठाने के लिए समय या अवसर नहीं मिल पाता।

संयुक्त घराने में बुर्जुग तथा युवा दोनों प्रकार के सदस्य पाये जाते है, फलस्वरूप पीढ़ियों के संघर्ष कई प्रकार से उभरते रहते है। बुर्जग लोग कठोरता से पारंपरिक मूल्यों एवं विश्वासों का पालन करते हैं। वे नए सांस्कृतिक चलन एवं

सीमा को स्वीकार नहीं पाते। आजकल युवा व्यक्तिवाद के पक्ष में होने लगे है एवं पारंपरिक मूल्यों को अधिनायकवादी, पक्षपातपूर्ण एवं अन्यायी मानकर इनका विरोध करने लगे हैं। इसके कारण कई बार परिवार में समस्याएँ पैदा हो जाती है और घर की शांति भंग हो जाती है। विभिन्न पीढ़ियों की सामाजिक अभिरूचियों में अंतर होता है।

संयुक्त परिवार में परिवर्तन

संयुक्त परिवार में निम्नलिखित परिवर्तनों की चर्चा समाजशास्त्रियों द्वारा अक्सर की जाती है:—

संरचनात्मक परिवर्तन

जिन तथ्यों एवं मूल्यों ने संयुक्त परिवार या घराने की व्यवस्था का पोषण किया, स्थायित्व दिया एवं कायम रखा वे निम्नलिखित हैं :—

(1) पुत्रों में पिता के प्रति समर्पण की भावना,

(2) आर्थिक रूप से समर्थ सदस्यों का संयुक्त परिवार के अन्य सदस्यों की मदद के लिए तत्पर रहना जो खुद अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने में असमर्थ हैं,

(3) बुजुर्ग स्त्री—पुरूष के लिए राज्य द्वारा नियोजित सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था का अभाव होना, एवं

(4) जमीन, पूंजी एवं श्रम के चतुर्दिक लाभ की दृष्टि से संगठन एवं दोहन के लिए संयुक्त परिवार के आकार द्वारा दिया गया भौतिक प्रोत्साहन।

अब संयुक्त घरों में निम्नलिखित कारणों से विघटन हो रहा है:–

(1) भाइयों की आमदनी में अंतर जो घर में कलह को जन्म देता है।

(2) बेटों और उनकी पत्नियों में पारिवारिक जिम्मेदारी निभाने की भावना में कमी।

(3) पाश्चात्य शैली के प्रभावस्वरूप युवकों मे व्यक्तिवाद का विकास।

(4) अर्थव्यवस्था में सेवाक्षेत्र का बढ़ता महत्त्व तथा बाहरी आमदनी के बढ़ते अवसर के कारण नाभिकीय परिवारों को वरीयता।

प्रकार्यात्मक परिवर्तन

इसकी तीन स्तरों पर पड़ताल की जा सकती है :

1. *पति–पत्नी संबंध* – पारंपरिक घरों में निर्णय लेने के काम में पत्नी, अपने पति के सहायक की भूमिका निभाती थी। परन्तु समकालीन घरों में पत्नी, अपने पति के बराबर ज्यादा सक्रिय भूमिका निभाती है। फलस्वरूप घर के कार्य एवं बाहर के कार्य की दृष्टि से पति–पत्नी एक – दूसरे के साथ सहयोग एवं समयोजन करने लगे हैं।
2. *माता–पिता एवं बच्चों का संबंध* – पारंपरिक परिवारों में शक्ति एवं अधिकार पूरी तरह से कर्त्ता के हाथ में

होता था और उसे शिक्षा, व्यवसाय एवं बच्चों के विवाह के बारे में निर्णय लेने के लिए परिवार में असीमित अधिकार प्राप्त होते थे। समकालीन परिवारों में अब अधिकांशतः माता–पिता एवं उनके बच्चे सामूहिक रूप से मिल–जुल कर निर्णय करने लगे हैं।

3. *सास–श्वसुर (ससुर) के साथ बहू का संबंध* – इस संबंध में एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आया है। शिक्षित बहू अपने ससुर के सामने पर्दा नहीं रखती। सास–बहू के संबंध में भी पहले की तुलना में अब कम कटुता है। सास अब शक्तिशाली पद नहीं रहा परन्तु वह ससुर की तरह एक सम्मानीय संबंधी अब भी है।

भाग–2

अध्याय 1

वैदिक धारा और श्रमण परंपरा

अध्याय 2

बौद्ध धर्म

अध्याय 3

बौद्ध धर्म तथा हिन्दू का परस्पर संबंध

बौद्ध धर्म के विकास में डॉ. बी.आर. अम्बेडकर का सैद्धांतिक योगदान

अध्याय 4

डॉ. बी.आर. अम्बेडकर, बौद्ध धर्म एवं विश्व ग्राम

अध्याय 5

सर्वधर्म

अध्याय 6

धर्म एवं सिनेमा

अध्याय 7

लोक परंपराओं का शास्त्र

अध्याय 8

भारतीय परंपरा के समकालीन प्रवक्ता

अध्याय–1

हिन्दू वैदिक धारा और बौद्ध श्रमण धारा

वैदिक धारा और श्रमण धारा में अपनी–अपनी कुछ अलग विशेषताएँ हैं पर साथ ही दोनों में कुछ परस्पर समावेशक तत्व हैं। इस सम्बन्ध में दो बातें पुनः विचारणीय हैं। एक तो यह कि यदि वर्णों का संघर्ष होता तो क्या इतनी अधिक संख्या में बौद्ध दर्शन के आचार्य ब्राह्मण होते? और यदि भाषा का संघर्ष होता तो संस्कृत में बौद्ध धर्म दर्शन का इतना विपुल वाङम्य क्यों होता?

वैदिक विचारधारा में चतुर्थ आश्रम संगठित नहीं था। बौद्ध और जैन श्रमन संगठन संगठित हुए और इन संगठनों का प्रभाव सन्यासी संगठनों पर भी पड़ा। संन्यासियों के भी संगठन, मठ और पीठ बने। श्रमण व्यवस्थाएँ जाति विरोधी थीं, यह इतिहास से प्रमाणित नहीं है। इन व्यवस्थाओं के बावजूद इनके भीतर रहने वाले लोगों में भी वर्णभेद बने रहे और सामाजिक व्यवस्था भी बनी रही। कालान्तर में जैन धर्म में अवश्य संस्कार पद्धति विकसित हुई पर प्राचीनकाल में न जैनों ने और न ही बौद्धों ने स्वतंत्र गृहसूत्र जैसे ग्रन्थ रचे। इसका कारण यह था कि परिवार केन्द्रित भारतीय समाज की व्यवस्था बड़ी सुदृढ़ थी और सारा जगत इस परिवार धारणा का ही

विस्तार था। यह धारणा परस्पर सहिष्णुता, आदर, प्रेम और सहयोग के लिए भूमि तैयार करती रही। इसको अस्वीकार कर इससे अस्वीकार कर इससे अलग रहकर कोई व्यवस्था भारतवर्ष में चल नहीं सकती थी। जब–जब इस व्यवस्था को तोड़ने का प्रयत्न हुआ। तब–तब तोड़ने वाले ही अधिक टूटे।

धर्म परिचालक है, नीति उसके द्वारा परिचालित व्यवस्था है। धर्म के व्यापक अर्थ में मोक्ष भी धर्म ही है और चारों पुरूषार्थ एक दूसरे की विरोधी नहीं एक ही विराट धर्म के सोपान हैं। मोक्ष को पहले के तीनों सोपानों से अलग करके एक अलग मार्ग बनाने से कर्म का अनुशासन शिथिल हुआ।

भगवद् गीता ने समन्वय का एक मार्ग दिया। मध्ययुग के भक्तों ने उसके आगे एक दूसरा मार्ग दिया। रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, तिलक, गाँधी और श्रीअरविन्द ने आधुनिक युग में फिर नया मार्ग दिया। इससे वैदिक धर्म और श्रमण परंपरा के बीच एकता एवं तादात्मयता के तत्व विकसित हुआ। गृहस्थ धर्म और सन्यास धर्म के बीच की दूरी कम हुई।

भारतीय समाज की सबसे छोटी इकाई परिवार है और व्यक्ति परिवार के सम्बन्धों का वितान लेकर ही अस्तित्ववान होता है और अंत में उसका विलयन सर्वभूत में हो जाता है। काल की अनुभूति अर्थात अपने द्वारा कर्मों की क्रियामणता की अनुभूति व्यक्ति को होती है। साथ ही ध्यानयोग के बल पर इस स्थिति के अतिक्रमण की भी अनुभूति होती है यह अनुभूति ही व्यक्ति का संस्कार है। हिन्दु, बौद्ध एवं जैनों में ध्यान–योग

की परंपरा एक जैसी है पर काल की अनुभूति की पहचान के विषय में भेद है। बौद्ध–साधना में 'क्षणिकता सत्ता' का स्वभाव है। एक सत्ता से दूसरी सत्ता में निमीलन एक सत्ता के नया रूप धारण करने की क्रमिकता की पहचान का विषय बनाती है जबकि वैदिक दर्शनों में शाश्वत एकसूत्रता सत्ता की एकता ही पहचान कराता है।

रामस्वरूप के अनुसार भगवान बुद्ध हिन्दू धर्म की अध्यात्म–चेतना के अभिन्न अंग हैं। भगवान बुद्ध का जन्म हिन्दू कुल में हुआ था। चाहे हम बौद्धधर्म के उदय, उत्थान तथा पराकाष्ठा पर दृष्टिपात करें, चाहे बौद्धधर्म के शिल्प, स्थापत्य, अथवा उसकी मूर्तिकला, भाषा, श्रद्धा, मनीषा, शब्दावली, नामानुक्रमणिका, विनय–प्रणाली तथा अध्यात्म–साधना को लक्ष्य करें हिन्दुत्व की भावना उसके उदय तथा उत्कर्ष में सर्वत्र व्याप्त है। बौद्ध धर्म भले ही दीर्घकाल से सुदूर विदेशों में वास करता रहा हो, किन्तु उसकी अध्यात्म–साधना की अभिव्यक्ति तथा उसका उर्ध्वस्थ अध्यात्म–साक्षात्कार अभी भी हिन्दुत्व का परिचय देता है। हिन्दू धर्म का सर्वस्व बौद्धधर्म में परिभुक्त नहीं है। किन्तु बौद्धधर्म का सर्वस्व अवश्य ही उस तंत्र के अन्तर्गत है जिसका तात्विक बोध हिन्दू धर्म के नाम से होता है।

भगवान बुद्ध ने सत्य का साक्षात्कार करने के लिए वर्गीकरण, समतुलन, निर्णयन, निष्कर्षण तथा प्रयोगीकरण इत्यादि प्रणालियों का आश्रय नहीं लिया। ये प्रणालियाँ ही

बुद्धिवाद का सर्वस्व है। भगवान बुद्ध तो शीलशुद्धि, ध्यान, समाधि, समर्पण, अक्षुण्ण द्रष्टभाव और अविरत अभीप्सा की बात कहते थे। इन्हीं साधनाओं के पथ पर आगे बढ़ने से साधक अपने साधारण चित्त का अतिक्रमण करता है और परम सत्य का प्रकाश हठात अथवा उत्तरोत्तर उदय होता है।

कुछ यूरोपीय विद्वान बौद्धधर्म को केवल शील की एक संहिता बनाकर प्रस्तुत करते है। भगवान बुद्ध ने स्वयं इस सिद्धांत का प्रत्याख्यान स्पष्ट शब्दों में किया है। उन्होंने आग्रह किया है कि शील के विषय में उनके शिक्षापद ''मुख्य'' नहीं वरन ''गौण'' हैं। उन्होंने स्वयं प्रज्ञापित किया है कि ''समाधि'' तथा ''प्रज्ञा'' के विषय में दिए गए उनके उपदेश ही सारभूत हैं। उनके मत में जो लोग शील–सम्बन्धी शिक्षापदों को लेकर उनकी सराहना करते थे, वे ''अज्ञ'' और साधारण बुद्धि वाले अथवा ''पृथग्जन'' थे। भगवान बुद्ध के तर्क तथा शील का एक उर्ध्वस्थ आधार था। भगवान बुद्ध की करूणा केवल लौकिक अथवा मानवता प्रवण नहीं थी। वस्तुतः वह सम्यक सम्बुद्ध की अगाध और अम्लान करूणा थी। जिस शांति की वे शिक्षा देते थे उसे व्यक्तियों अथवा राष्ट्रों के बीच की गई सन्धि नहीं समझना चाहिए।

कुछ लोगों ने भगवान बुद्ध के उस मौन का जो उन्होंने ब्रह्म, आत्मा, परमात्मा इत्यादि प्रश्नों के प्रसंग में धारण किया था मनमाना अर्थ करते हैं। संदर्भ रहित व्याख्या से अर्थ का अनर्थ हुआ है। भगवान बुद्ध का मौन सकारण था। उसका एक

सभ्यतामूलक संदर्भ था। उन्होंने उन समस्त प्रश्नों का उत्तर देना अस्वीकार कर दिया जिनका सम्बन्ध व्यक्ति के आध्यात्मिक कल्याण के साथ क्रियात्मक रूप से सिद्ध नहीं होता था। अध्यात्म स्वभावतः ही क्रियापरक होता है। भगवान बुद्ध के युग में तो यह मौन अत्यंत आवश्यक भी था। उस समय तत्वशास्त्र के बासठ सिद्धान्त (अठारह सिद्धान्त सृष्टि के विषय में, और चालीस सिद्धान्त प्रलय के विषय में) परस्पर विवाद कर रहे थे। आहार को लेकर तपस्या करने की बाईस प्रणालियाँ थी, वस्त्र को लेकर तेरह प्रणालियाँ। मरण के उपरान्त आत्मा की स्थिति को लेकर अनवरत वाद–विवाद होता रहता था।

इन विवाद करने वालों में अक्रियावादी थे, दैववादी थे, जड़वादी थे, अकृतवादी थे, अनिश्चितत्ववादी थे और अन्य प्रकार के वादी–प्रतिवादी तथा वितण्डावादी थे।

इस प्रकार का वातावरण किसी भी अध्यात्म–साधक के मन में सत्यशः विरक्ति उपजाता है। वह बुद्धि के बुलबुले उठाने की अपेक्षा सम्यक साधना को ही अधिक उपादेय मानता है। इसलिए यह आश्चर्य की बात नहीं कि भगवान बुद्ध ने इन प्रश्नों का उत्तर देना अस्वीकार कर दिया। प्रवीण पंडित उनके पास आकर इन्हीं प्रश्नों को अनेक प्रकार से पूछते थे। भगवान बुद्ध ने मौन रहकर ही इन समस्त प्रश्नों का प्रत्युत्तर दिया क्योंकि उनकी साधना सर्वथा क्रिया परक थी।

एक और कारण से भगवान बुद्ध ने तात्विक प्रश्नों की विवेचना करना अस्वीकार किया था। ये प्रश्न केवल निरर्थक ही नहीं थे, अपितु इनके उत्तर किसी बुद्धिगम्य भाषा में देना भी असम्भव था। केनोपनिषद में कहा गया है: ''वहाँ न तो चक्षु–इन्द्रिय पहुँच सकती है, न मनस ही जिस प्रकार से इसको बतलाया जाए कि यह ऐसा है, वह प्रकार न तो हम स्वयं अपनी बुद्धि से जानते हैं, न दूसरों से सुनकर ही जानते हैं।'' भगवान बुद्ध ने भी अपने–आप को ऐसी ही असमर्थता की स्थिति में पाया। अध्यात्म–सम्बन्धी समस्त साहित्य के अनुसार जो बातें बुद्धि के परे हैं उनको बुद्धिगम्य सिद्धान्तों के रूप में व्यक्त नहीं किया जा सकता। अतएव इन प्रश्नों का जो भी उत्तर दिया जाए, वही ''अव्याकृत'' है। भगवान बुद्ध बार–बार इस बात को दोहराते थे।

किसी भी समस्या के समाधान की दो प्रणालियां होती हैं – क्रियात्मक तथा सिद्धान्तात्मक, मनोवैज्ञानिक तथा तात्विक। उदाहरणार्थ, सांख्यदर्शन सिद्धान्तों तथा तत्वों की विवेचना करता है। इसी प्रकार वेदान्त दर्शन सिद्धान्तों की तथा परमतत्व के स्वरूप की विवेचना करता है। ठीक उसी प्रकार बौद्ध धर्म उस साधना, शील तथा समाधिमार्ग की विवेचना करता है जिसके द्वारा इन्द्रियातीत साक्षात्कार सम्भव होता है।

इसके लिए भगवान बुद्ध प्रज्ञा तथा चार आर्यसत्यों की व्याख्या करते हैं। किन्तु यह व्याख्या भी प्रमुखतः साधना की

दृष्टि से ही प्रस्तुत की गई है। उद्देश्य यह है कि साधक का चित्त व्याख्या पर निविष्ट होकर वैराग्य को प्राप्त हो और वह नाम–रूप के संसार में विमुख हो जाय। उस व्याख्या का पारमार्थिक और तात्विक अर्थ तो साधना के समापन पर ही विदित हो पाता है। जिस स्थिति में वह अर्थ विदित हो जाता है, उसी को बौद्ध धर्म में बुद्धत्व, सम्बोधि, निर्वाण इत्यादि की संज्ञा दी जाती है। इस परमोपलब्धि की विवेचना करना भगवान बुद्ध ने स्वीकार कर दिया।

भगवान बुद्ध की अध्यात्म–अनुभूति अकारण या अकस्मात् नहीं थी। वह अनुभूति अप्रत्याशित एवं व्यक्तिगत भी नहीं थी। इसके विपरीत, वह अनुभूति सर्वथा प्रत्याशित एवं सर्वजनीन थी। भगवान बुद्ध ने स्वयं भी इससे अधिक आग्रह नहीं किया था कि उन्होंने वह ''पुरातन मार्ग पा लिया है, जिस पर पूर्व काल के सम्यक सम्बुद्ध चले थे।''

सनातन धर्म के अनुरूप ही बौद्धधर्म में भी परम अनुभूति होने से पूर्व अहंकार का अतिक्रमण विधेय है। साधक को शून्य के समान प्रतीत होने वाले तत्व की सम्पूर्णता का बोध हो उसके पूर्व सम्पूर्ण के समान प्रतीत होने वाले संसार की शून्यता का बोध हो जाना चाहिए। तृष्णा का क्षय हो जाना चाहिए। साधक की बुद्धि समस्त तर्क–वितर्क, संकल्प–विकल्प तथा चंचलता से मुक्त हो जानी चाहिए।

व्यावहारिक सत्ता के प्रत्याख्यान द्वारा ही नहीं, अपितु पारमार्थिक तत्व के प्रतिपादन द्वारा भी भगवान बुद्ध उपनिषदों

का ही अनुसरण करते हैं। जिस शून्यवादी व्याख्या के लिए बौद्ध धर्म आज विख्यात है, वह नागार्जुन इत्यादि भगवान बुद्ध के परवर्ती अनुयायियों की ही कृति है। भगवान बुद्ध के अपने शिक्षापदों में तो शून्यवाद का समर्थन करने वाला कोई सिद्धान्त नहीं मिलता। सम्बोधि प्राप्त करने के उपरान्त भगवान बुद्ध ने स्वयं कहा था: ''मैंने अमृत, अनुसार योगक्षेम निर्वाण को पा लिया।'' उन्होंने निर्वाण की स्थिति उसको कहा था ''जिसमें न जन्म रहता है, न जरा, न व्याधि, न मरण, न शोक, न संक्लेश।'' उदान (सुत्तापिटक) में इस स्थिति को ''अजात, अभूत, अकृत, असंकृत'' कहा गया है। उस स्थिति में जिसको भगवान बुद्ध निर्वाण कहते हैं और जिसको सनातन धर्म ब्रह्मस्थिति बतलाता है, क्षय तथा वृद्धि का पूर्ण अवसान हो जाता है। यहाँ पर निर्वाण की अनुभूति का वर्णन ''शून्यता'' अथवा ''अभाव'' की भाषा में व्यक्त नहीं किया गया, प्रत्युत उस अनुभूति का वर्णन ''शून्यता'' अथवा ''अभाव'' की भाषा में व्यक्त नहीं किया गया, प्रत्युत उस अनुभूति को ''समाधि, आनंद, विमुक्ति तथा सम्बोधि'' की संज्ञा दी गई है। यह वही भाषा है जिसका व्यवहार उपनिषदों में हुआ है। अध्यात्म की परंपरा में इस स्थिति को ''शून्य'' भी कहा गया है, तथा ''पूर्ण'' भी। भगवान बुद्ध के शिक्षापदों में जिस दुःख का इतना उल्लेख है उस दुःख की स्थिति मानसिक नहीं, परमार्थिक है।

दुःख तथा आनंद के विषय में हिन्दूधर्म तथा बौद्धधर्म की धारणाएँ पूरक ही हैं, परस्पर विरोधी नहीं हैं। नीचे की ओर

से देखने पर (द्वंद तथा अनेकत्व के दृष्टिकोण से) भगवान से विलग होकर, यह जगत बौद्धधर्म की धारणा के अनुरूप ही दुःख, दौर्मनस्य, अनित्यत्व तथा वेदना का आगार है। किन्तु ऊपर की ओर से देखने पर (सर्वतोमुखी दृष्टिकोण से) यह सब–कुछ आनंद में सराबोर है। भगवान बुद्ध, उनकी अध्यात्म–अनुभूति तथा उनके शिक्षापद हिन्दू परंपरा के ही अन्तर्गत थे। वे उपनिषद की परंपरा उत्तराधिकारी थे। उनको किसी अन्य अर्थ में समझा ही नहीं जा सकता। भगवान बुद्ध ने स्वयं किसी अभिनव आविष्कार का दावा नहीं किया। उन्होंने तो यही दावा किया था कि उन्होंने एक ''पुरातन पथ को देख लिया'' और वे एक ''पुरातन पथ'' पर चल रहे हैं। हिन्दू धर्म और बौद्ध धर्म परस्पर सहोदर हैं।

डा. बी.आर. अम्बेडकर का बौद्ध धर्म के विकास में सैद्धांतिक योगदान

डा. अम्बेडकर के धार्मिक विचारों को समझने की दृष्टि से उनकी दो महत्वपूर्ण पुस्तकें हैं – रिडल्स ऑफ हिन्दूइज्म एवं बुद्धा एंउ हिज धम्म। प्रथम पुस्तक में उन्होंने हिन्दू समाज व्यवस्था के सामाजिक एवं धार्मिक अंतर्विरोधों की चर्चा की है। जबकि दूसरी पुस्तक में गौतम बुद्ध के द्वारा प्रतिपादित बौद्ध धर्म की व्याख्या की है। उन्होंने गौतम बुद्ध की पालि भाषा में दिए उपदेशों का युगानुकूल भाष्य करने के क्रम में इसे धर्म की जगह धम्म कहने पर जोर दिया है।

भगवान बुद्ध के उपदेश में ''अपना दीपक खुद बनने'' पर जोर है। भगवान बुद्ध की धम्म में दूसरे की कही, देखी और लिखी बातों पर आस्था या विश्वास की जगह ''आत्मानुभूति और आत्मसाक्षात्कार'' पर जोर है। जब आत्मानुभूति और आत्मसाक्षात्कार होता है तो करूणा, शील और प्रज्ञा की उत्पत्ति होती है। पारंपरिक बौद्ध धर्म आगे चलकर दो महत्वपूर्ण सम्प्रदायों में विभाजित हो गया था। थेरवादी सम्प्रदाय (जिसके अनुयायी श्रीलंका, बर्मा और थाइलैंड जैसे देशों में ज्यादा हैं) का आग्रह आत्मसाक्षात्कार (अपने दीपक खुद बनने की प्रक्रिया) के बाद व्यक्तिगत निर्वाण (या मुक्ति) पाने पर ज्यादा जोर रहा है। यह बौद्ध धर्म का पारंपरिक और ज्यादा लोकप्रिय सम्प्रदाय रहा है। दूसरी ओर महायान सम्प्रदाय के लोग (जिसके अनुयायी तिब्बत और जापान तथा पश्चिम के कुछ देशों में पाए जाते हैं) आत्मसाक्षात्कार के बाद व्यक्तिगत निर्वाण प्राप्त करने की बजाय सामूहिक निर्वाण प्राप्त करने की करूणावश सुकर्म करने पर ज्यादा जोर देते हैं। महायान सम्प्रदाय के संस्थापक आचार्य नागार्जुन एवं असंग माने जाते हैं जबकि थेरवादी सम्प्रदाय के सबसे प्रमुख आचार्य महात्मा बुद्ध, भिक्षु आनंद, महाकश्यप और मोगलिपुत्र शिष्य माने जाते हैं।

आधुनिक भारत में बौद्ध धर्म के विकास में महाबोधी सोसाइटी ऑफ श्रीलंका के संस्थापक अनागरिक धर्मपाल की सबसे महत्वपूर्ण भूमिका मानी जाती है। उन्नीसवीं शताब्दी के

अंतिम वर्षों में वे थेरवादी सम्प्रदाय के सबसे प्रमुख संगठक और नेता साबित हुए। उनके प्रयासों से पहले लद्दाख, सिक्किम और हिमालय की तराई में बौद्ध धर्म के अनुयायी रहते थे लेकिन बिहार, नेपाल, पूर्वी उत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र और आंध्रप्रदेश के बौद्ध मंदिरों, विहारों, स्तुपों के प्रति स्थानीय समुदाय का उदासीन भाव था। फलस्वरूप, अन्य देशों के बौद्ध पर्यटकों को कई प्रकार की असुविधा होती थी। 20वीं शताब्दी के प्रारंभ में श्रीलंकाई पिता और अंग्रेज माँ के बेटे आनंद केंटिश कुमारस्वामी ने बौद्ध एवं हिन्दू कला के तुलनात्मक अध्ययन के माध्यम से हिन्दू धर्म एवं बौद्ध धर्म के बीच सभ्यतामूलक एकता को रेखांकित किया। 1956 में अपनी मृत्यु से पूर्व डा. अम्बेडकर अपने अनुयायियों के साथ सामूहिक रूप से बौद्ध, धर्म में दीक्षित हुए तो उनके धर्मोपदेशक आचार्य थेरवादी सम्प्रदाय एवं बर्माई मूल के एक भंते थे। अतः वे महाबोधी सोसाइटी ऑफ श्रीलंका से जुड़ गए। अपने लंबे सामाजिक जीवन में वे लगातार महात्मा बुद्ध और संत कबीर की रचनाओं का हिन्दू धर्म की समालोचना करने में इस्तेमाल करते रहे थे। संत कबीरदास चौदहवीं–पंद्रहवीं शताब्दी के बीच भारत में निर्गुण भक्ति के सबसे प्रमुख आचार्य हुए हैं जिनका मराठी ज्ञानोदय की संत परंपरा में तुकाराम और नामदेव पर निर्णायक प्रभाव माना जाता है। पंजाब के महान गुरू नानक पर भी कबीरदास का महत्वपूर्ण प्रभाव था। कबीरदास पर बौद्ध तंत्रागम से प्रभावित सिद्धों एवं नाथों के महान आचार्य गुरू गोरखनाथ का प्रभाव था। बाद में वे उत्तर भारत के महान

वैष्णव आचार्य रामानंद से भी प्रभावित हुए। 15वीं शताब्दी से कबीरपंथ एक स्वतंत्र सम्प्रदाय के रूप में विकसित हुआ। डा. अम्बेडकर का परिवार एक कबीरपंथी परिवार था। बहुजन समाज पार्टी के संस्थापक मान्यवर कांशीराम का जन्म एक नानकपंथी सिख परिवार में हुआ था। डा. अम्बेडकर के ज्यादातर उत्तर भारतीय अनुयायियों का परिवार ज्यादातर महान भक्त संतों के पंथ, मठ या आश्रम से संबंधित रहा है। कबीर, तुकाराम, नामदेव, नानक, रविदास (रैदास), दादू, ताना आदि गैर–ब्राह्मण संतों के सवर्ण अनुयायियों की संख्या भी कम नहीं रही है। भारत में भक्ति सम्प्रदाय का जन्म पहले दक्षिण भारत में हुआ। लेकिन दक्षिण भारत के भक्तों का सीधे–सीधे उत्तर भारत पर प्रभाव नहीं हो गया। ईसा–पूर्व छठी शताब्दी से 12वीं शताब्दी तक उत्तर भारत में बौद्ध धर्म का नियंत्रण नालंदा के महान गुरूकुल और बौद्ध विहार से होता था। 13वीं शताब्दी में बख्तियार खिलजी ने नालंदा के गुरूकुल (बौद्ध विश्वविद्यालय) और बौद्ध विहार को नष्ट कर दिया। कुछ बौद्ध भिक्षु तिब्बत और अन्य स्थानों पर चले गए। अन्य लोग देश के विभिन्न भागों में सिद्ध और नाथ योगी के रूप में बिखर गए। 14वीं शताब्दी में उत्तर भारत के भक्ति सम्प्रदायों के विकास में इन सिद्धों और नाथ योगियों की महत्वपूर्ण भूमिका रही। लेकिन एक स्वतंत्र धर्म के अंत में अनागरिक धर्मपाल के भारत आने और महाबोधी सोसाइटी के निर्माण (1891) के बाद ही हो पाया।

डा. अम्बेडकर और उनके अनुयायियों के धर्म परिवर्तन (1956) के बाद भारत में बौद्ध धर्म का नवोदय शुरू होता है। डा. अम्बेडकर ने भारत में बौद्ध धर्म को दलितों के संस्कृतिकरण के वैकल्पिक मॉडेल के रूप में तो विकसित किया ही, इसे गृहस्थ धर्म के रूप में युगानुकूलित भी किया। भगवान बुद्ध ने खुद भिक्षुओं के लिए और गृहस्थों के लिए अलग–अलग धर्मों का उपदेश किया था। अनागरिक धर्मपाल ने थेरवादी परंपरा के भिक्षुओं को संगठित करने के क्रम में भिक्षु धर्म को ही बौद्ध धर्म के रूप में प्रतिष्ठित किया था। यूरोप के प्राच्यविदों के प्रभाव में ज्यादातर जापानी एवं अन्य बौद्ध विद्वानों ने भी बौद्ध धर्म के टेक्युअल (धार्मिक साहित्य एवं पाठों) स्रोतों के आधार पर जो बौद्धिक विमर्श प्रस्तुत किया उसमें भी भिक्षु धर्म की आध्यात्मिक साधना और आत्मसाक्षात्कार एवं निर्वाण प्राप्ति की यौगिक एवं तांत्रिक क्रियाओं पर ही ज्यादा जोर था। कुल मिलाकर 1956 तक के बौद्ध विमर्श में शास्त्र पक्ष एवं भिक्षु धर्म पर जोर था। कुमारस्वामी ने बौद्ध कला को दुनिया के सामने रखा। लेकिन बौद्ध धर्म के लोकपक्ष एवं गृहस्थ धर्म को दुनिया के सामने समकालीन परिपेक्ष्य में रखने वाले डा. अम्बेडकर पहले व्यक्ति हुए। इसी प्रक्रिया में उन्होंने थेरवादी परम्परा के लोकपक्ष को महायान बौद्ध धर्म के सामूहिक निर्वाण वाले आध्यात्मिक पक्ष के साथ जोड़कर व्यक्तिगत निर्वाण के थेरवादी भिक्षु धर्म को अपने बौद्ध विमर्श का गौण स्थान दिया। बौद्ध तत्व मीमांसा के इतिहास में एक महान धर्मसुधार आंदोलन का सूत्रपात था।

इसकी तुलना काल्विन द्वारा शुरू किये गए ईसाई धर्म के प्रोटेस्टैंट ईसाई नैतिकता (इथिक) ने पूँजीवादी कार्य संस्कृति के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी, उसी तरह डा. अम्बेडकर के बौद्ध नैतिकता वाले लोक धर्म ने भारत के दलित समुदाय के बीच राजनीतिक कार्य संस्कृति विकसित कर गैर–उपनिवेशवादी प्रजातंत्रीय व्यवस्था को संपुष्ट करने में निर्णायक भूमिका निभायी है।

डा. अम्बेडकर के विचार में स्वविवेक एवं बहुजन के हित और बहुजन के सुख को बढ़ाने वाला सामाजिक कर्म बौद्ध धर्म की सबसे प्रमुख नीति है। बौद्ध धर्म की नैतिक व्यवस्था के केन्द्र में आत्म–प्रकाश से भरा हुआ स्वतंत्र व्यक्ति है जो समाज के सभी सदस्यों को समान समझता है तथा उनके प्रति भ्रातृत्व या बंधुत्व की भावना रखता हो। इस धर्म में जन्म पर आधारित जाति या छुआछूत के लिए कोई स्थान नहीं है। जो धर्म मनुष्य–मनुष्य में भेद करे और दूसरे समुदाय के लोगों को चाहे किसी भी आधार पर तुच्छ समझे वह धर्म हो ही नहीं सकता। डा. अम्बेडकर के अनुसार बौद्ध धर्म सम्पूर्ण मानवता का धर्म है। 'धम्म' के अनुसार सभी मनुष्य समान हैं। सत्य, अहिंसा, करूणा और दया बौद्ध धर्म की पारिभाषिक विशेषता है। बौद्ध धर्म भारत देश की परंपरा और संस्कृति का अभिन्न अंग है लेकिन हिन्दू धर्म की भाँति इसमें असमानता एवं छुआछूत जैसी भावना या शोषण और उत्पीड़न को धार्मिक मान्यता नहीं है।

डा. अम्बेडकर एक ऐसे धर्म की खोज में थे जो किसी वर्ग–विशेष का नहीं बल्कि सारी मानवता का धर्म हो सके। साम्यवादी दृष्टिकोण को डा. अम्बेडकर एक खतरा मानते थे। उनकी दृष्टि में सामाजिक व्यवस्था के संतुलन के लिए धर्म एक सामाजिक आवश्यकता है। साम्यवादी व्यवस्था की भौतिकता के प्रति अति आग्रह और वर्ग संघर्ष में हिंसा की वकालत उन्हें मानवता के लिए अभिशाप लगती थी। उनके अनुसार बौद्ध धर्म ही एक ऐसा धर्म है जो साम्यवाद का विकल्प हो सकता है। अगर कोई दर्शन कार्ल मार्क्स का सम्पूर्ण उत्तर दे सकता है तो वह बौद्ध धर्म ही है। उन्होंने तो यहाँ तक कहा कि बौद्ध धर्म, ईसाई मत वालों के लिए मान्य हो सकता है। क्योंकि ईसाई मत की 90 प्रतिशत मान्यताएं बौद्ध मान्यताओं के अनुरूप है। जेलियट जैसे विद्वानों ने तो साफ कहा है कि ''अम्बेडकर की नव धर्म दीक्षा, मार्क्सवाद के विरूद्ध की गई मोर्चा बंदी है।'' जबकि एडमंड वेबर के अनुसार यह ईसाई धर्म परिवर्तन की संभावना को अछूतों के बीच नहीं पनपने देने की डा. अम्बेडकर की दूरदर्शी नीति थी।

जो भी हो, आज डा. अम्बेडकर वंचित समूह के सबसे प्रमुख सिद्धांतकार बन चुके हैं। आज महात्मा गाँधी और डा. अम्बेडकर भारतीय सभ्यतामूलक विमर्श के समकालीन सिद्धांतकार हैं। महात्मा गाँधी का विमर्श भारतीय समाज के बहुसंख्यक हिन्दुओं के दृष्टिकोण की सभ्यतामूलक अभिव्यक्ति है तो डा. अम्बेडकर का विमर्श भारतीय समाह के अल्पसंख्यक

बौद्धों की दृष्टिकोण की सभ्यतामूलक अभिव्यक्ति है। वे एक अन्य अर्थ में दलित समुदाय के सबल्टर्न दृष्टिकोण के भी प्रवक्ता रहे हैं। वे पश्चिमी लिब्रल डेमाक्रेसी और गैर साम्यवादी व्यवस्था के नेहरू युग में गिने–चुने प्रवक्ताओं के रूप में भी तत्कालीन विकास चर्चा में गौण धारा (सबल्टर्न का एक अर्थ वंचित समूह है तो दूसरा अर्थ गौण धारा भी है) के प्रतिनिधि थे।

अध्याय—2

बौद्ध धर्म

बौद्ध धर्म भारत में छठी सदी ईसा पूर्व हुए नव—धार्मिक आंदोलन की प्रतिष्ठित परिणति है। इसके मूल में भारत का पारंपरिक धर्म है। इसका अस्तित्व गौतम बुद्ध के उपदेशों पर आधारित है। भगवान बुद्ध ने खुद घोषणा की थी कि वे कोई नया धर्म नहीं दे रहे हैं। उन्होंने केवल एक नया मार्ग दिया। पहले से उपलब्ध वैदिक और श्रमण परंपराओं के बीच एक पुल बनाया। एक नई व्यवस्था दी। सनातन धर्म को एक नया स्वरूप एक नई पद्धति एवं कुछ नई तकनीक दी। कलिकाल में सनातन धर्म के तीन शलाका पुरूष हैं— भगवान श्रीकृष्ण, भगवान महावीर एवं भगवान बुद्ध। यूरोपीय विद्वान हीगेल की भाषा में बात करें तो भगवान श्रीकृष्ण का श्रीमद् भगवतगीता में वर्णित उपदेश 'स्थापना' (थीसिस) है,

भगवान महावीर का जिन—सूत्र में वर्णित उपदेश 'प्रति—स्थापना' (एण्टी—थीसिस) है और भगवान बुद्ध का धम्मपद एवं जातक—कथाओं में वर्णित उपदेश 'पुनर्स्थापना' (सिनथेसिस) है। कुमारस्वामी 'पुनर्स्थापना' को पुनर्रचना (रिमेनिफेस्टेसन) कहते थे। हजारी प्रसाद द्विवेदी का प्रियशब्द 'पुनर्नवता' थी।

बौद्ध मत की घोषणा को त्री–आशय या तीन रत्न के रूप में जाना जाता है, जिसमें बुद्ध, धम्म व संघ आते हैं। बुद्ध एक बोधिसत्व प्राप्त शिक्षक (उपदेशक) है। कोई भी इन तीन आश्रयों को तीन बार उच्चारित करके बौद्ध बन सकता है, उदाहरणस्वरूप मैं बुद्ध की शरण में जाता हूँ (बुद्ध शरणम् गच्छामि) मैं धम्म की शरण में जाता हूँ (धम्मं शरणम् गच्छामि), मैं संघ की शरण में जाता हूँ (संघम् शरणम् गच्छामि)।

धम्म के चार अर्थ हैं :–

(1) परम सत्य,

(2) सम्यक आचरण

(3) धर्म सिद्धांत

(4) अनुभव का अनंत स्वरूप।

प्रथम तीन अर्थों को हिन्दू धर्म में देखा जाता है लेकिन चौथा बौद्ध धर्म की विशिष्टता है। सनातन धर्म की नई अभिव्यक्ति है।

बौद्ध धर्म के अनुयायी गौतम बुद्ध के बताए चार महान सत्यों में विश्वास करते हैं। पहले के अनुसार संसार में 'पीड़ा' व्याप्त है। दूसरा पीड़ा का कारण (इच्छा) बताता है। तीसरे महान सत्य के अनुसार पीड़ा के कारण को दूर किया जा सकता है। इन कारणों को दूर करने के लिए विस्तृत उपायों की व्याख्या चतुर्थ महान सत्य में मिलती है।

बौद्ध धर्म में अष्टांगिक मार्ग की विवेचना की गई है जिसमें सम्यक् दृष्टि, सम्यक् आकांक्षा, सम्यक् वाक्, सम्यक्

कर्म, सम्यक् जीविका, सम्यक प्रयत्न, सम्यक मनःस्थिति और सम्यक् चिंतन आते हैं। ये अष्ट मार्ग निर्वाण की तरफ ले जाते हैं जिससे सभी पीड़ाओं से मुक्ति मिलती है। चार महान सत्य एवं अष्ट मार्ग निर्देशक तत्व हैं।

बौद्ध धर्म के मुख्य ग्रंथों में 'विनय पिटक' (अनुशासन की व्याख्या), 'सुत पिटक' (उपदेशों की व्याख्या) और 'अभिधम्म पिटक' (धर्मनीतियों की व्याख्या) हैं।

बौद्ध धर्म के चार प्रमुख स्वरूप हैं:–

(क) स्थविरयान

(ख) महायान

(ग) वज्रयान या तंत्र

(घ) जेन।

भारत के विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों में इसके विभिन्न स्वरूप प्रचलित हैं। भारत के बाहर बौद्ध धर्म का प्रभाव तिब्बत, श्रीलंका, जापान, कोरिया, थाईलैंड, कंबोडिया, यूरोपीय संघ एवं संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे देशों में है।

भारत में सबसे महत्वपूर्ण बौद्ध त्यौहार बुद्ध पूर्णिमा है। अनेक बौद्ध कुछ अन्य त्यौहार भी मनाते हैं। अनेक बोद्ध परिवारों द्वारा हिन्दू त्यौहार जैसे होली, दीपावली और मकर संक्रांति भी मनाए जाते हैं। बाबा साहब अंबेडकर बौद्ध धर्म को हिन्दू संस्कृति का विकास मानते थे।

भारतीय समाज में बौद्ध धर्म के अलावा अनेक धर्म एवं सम्प्रदाय उल्लेखनीय हैं, जैसे वैष्णव, शैव, शाक्त, लिंगायत, कबीरपंथी, रैदासपंथी। बौद्ध व जैन जैसे प्रारंभिक धार्मिक समुदायों को श्रमण परंपरा कहा जाता है जबकि हिन्दू धर्म से जुड़े सम्प्रदायों को वैदिक परंपरा कहा जाता है। इन धार्मिक समूहों और विस्तृत हिन्दू समाज के बीच परस्पर संबंध होता है। पंजाब में हिन्दुओं एवं सिक्खों के बीच विवाह के उदाहरण मिलते रहे हैं। बौद्ध व हिन्दुओं में भी वैवाहिक संबंध होते हैं। हिन्दू बनिया व जैनों के बीच गहरे सामाजिक व सांस्कृतिक संबंध हैं।

बौद्ध व जैन जैसे प्रारंभिक धार्मिक समुदायों के प्रभाव में पुरोहितों के प्रभुत्व और जातीय प्रस्थिति के महत्व पर अंकुश लगा। बौद्ध धर्म ने सभी जीवों के प्रति करूणा की भावना को धार्मिक महत्व प्रदान किया। जैन धर्म ने अहिंसा के सिद्धांत को स्थापित किया। भगवान बुद्ध ने शास्त्रों एवं पुरोहितों की सीमा स्पष्ट करके अपना दीपक खुद बनने की शिक्षा दी। जिससे समाज में विवेक एवं प्रज्ञा का महत्व स्थापित हुआ।

तत्पश्चात् दक्षिण भारत में भक्ति संप्रदाया का छठी और ग्यारहवीं शताब्दी के बीच उदय हुआ। उत्तर भारत में चौदहवीं से सत्रहवीं शताब्दी के बीच इस भक्ति संप्रदाय का प्रचार–प्रसार एवं संवर्धन हुआ। इसके प्रभाव से उदारवाद प्रकाश में आया जिससे लोगों को आनुष्ठानिक व सामाजिक प्रतिबंधों से छूट मिली। साथ ही ईश्वर के समक्ष समानता का

सिद्धांत प्रचलित हुआ। भारतीय मूल के अन्य पंथों में कबीर पंथ, रैदास पंथ, नानक पंथ, लिंगायत पंथ आदि भक्ति संप्रदाय से जुड़े हैं। औपनिवेशिक शासन काल में भारतीय समाज में अनेक नई सुधारवादी धाराएँ उभरी। सुधार आंदोलनों में ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज, रामकृष्ण मिशन आदि की स्पष्ट भूमिका रही है। सुधार के इन्हीं प्रयत्नों को अणुव्रत आंदोलन, भूदान आंदोलन व स्वाध्याय आंदोलन के रूप में नए आयाम मिले।

अध्याय–3
बौद्ध धर्म के विकास में डा. बी.आर. अम्बेडकर का सैद्धांतिक योगदान

डा. अम्बेडकर के धार्मिक विचारों को समझने की दृष्टि से उनकी दो महत्वपूर्ण पुस्तकें हैं – रिडल्स ऑफ हिन्दूइज्म एवं बुद्धा एंउ हिज धम्म। प्रथम पुस्तक में उन्होंने हिन्दू समाज व्यवस्था के सामाजिक एवं धार्मिक अंतर्विरोधों की चर्चा की है। जबकि दूसरी पुस्तक में गौतम बुद्ध के द्वारा प्रतिपादित बौद्ध धर्म की व्याख्या की है। उन्होंने गौतम बुद्ध की पालि भाषा में दिए उपदेशों का युगानुकूल भाष्य करने के क्रम में इसे धर्म की जगह धम्म कहने पर जोर दिया है।

भगवान बुद्ध के उपदेश में ''अपना दीपक खुद बनने'' पर जोर है। भगवान बुद्ध की धम्म में दूसरे की कही, देखी और लिखी बातों पर आस्था या विश्वास की जगह ''आत्मानुभूति और आत्मसाक्षात्कार'' पर जोर है। जब आत्मानुभूति और आत्मसाक्षात्कार होता है तो करूणा, शील और प्रज्ञा की उत्पत्ति होती है। पारंपरिक बौद्ध धर्म आगे चलकर दो महत्वपूर्ण सम्प्रदायों में विभाजित हो गया था। थेरवादी सम्प्रदाय (जिसके अनुयायी श्रीलंका, बर्मा और थाइलैंड जैसे देशों में ज्यादा हैं) का आग्रह आत्मसाक्षात्कार (अपने दीपक खुद बनने की प्रक्रिया) के बाद व्यक्तिगत निर्वाण (या

मुक्ति) पाने पर ज्यादा जोर रहा है। यह बौद्ध धर्म का पारंपरिक और ज्यादा लोकप्रिय सम्प्रदाय रहा है। दूसरी ओर महायान सम्प्रदाय के लोग (जिसके अनुयायी तिब्बत और जापान तथा पश्चिम के कुछ देशों में पाए जाते हैं) आत्मसाक्षात्कार के बाद व्यक्तिगत निर्वाण प्राप्त करने की बजाय सामूहिक निर्वाण प्राप्त करने की करूणावश सुकर्म करने पर ज्यादा जोर देते हैं। महायान सम्प्रदाय के संस्थापक आचार्य नागार्जुन एवं असंग माने जाते हैं जबकि थेरवादी सम्प्रदाय के सबसे प्रमुख आचार्य महात्मा बुद्ध, भिक्षु आनंद, महाकश्यप और मोगलिपुत्र तिष्य माने जाते हैं।

आधुनिक भारत में बौद्ध धर्म के विकास में महाबोधी सोसाइटी ऑफ श्रीलंका के संस्थापक अनागरिक धर्मपाल की सबसे महत्वपूर्ण भूमिका मानी जाती है। उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में वे थेरवादी सम्प्रदाय के सबसे प्रमुख संगठक और नेता साबित हुए। उनके प्रयासों से पहले लद्दाख, सिक्किम और हिमालय की तराई में बौद्ध धर्म के अनुयायी रहते थे लेकिन बिहार, नेपाल, पूर्वी उत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र और आंध्रप्रदेश के बौद्ध मंदिरों, विहारों, स्तुपों के प्रति स्थानीय समुदाय का उदासीन भाव था। फलस्वरूप, अन्य देशों के बौद्ध पर्यटकों को कई प्रकार की असुविधा होती थी। 20वीं शताब्दी के प्रारंभ में श्रीलंकाई पिता और अंग्रेज माँ के बेटे आनंद केंटिश कुमारस्वामी ने बौद्ध एवं हिन्दू कला के तुलनात्मक अध्ययन के माध्यम से हिन्दू धर्म एवं बौद्ध धर्म के बीच

सभ्यतामूलक एकता को रेखांकित किया। 1956 में अपनी मृत्यु से पूर्व डा. अम्बेडकर अपने अनुयायियों के साथ सामूहिक रूप से बौद्ध, धर्म में दीक्षित हुए तो उनके धर्मोपदेशक आचार्य थेरवादी सम्प्रदाय एवं बर्माई मूल के एक भंते थे। अतः वे महाबोधी सोसाइटी ऑफ श्रीलंका से जुड़ गए। अपने लंबे सामाजिक जीवन में वे लगातार महात्मा बुद्ध और संत कबीर की रचनाओं का हिन्दू धर्म की समालोचना करने में इस्तेमाल करते रहे थे। संत कबीरदास चौदहवीं–पंद्रहवीं शताब्दी के बीच भारत में निर्गुण भक्ति के सबसे प्रमुख आचार्य हुए हैं जिनका मराठी ज्ञानोदय की संत परंपरा में तुकाराम और नामदेव पर निर्णायक प्रभाव माना जाता है। पंजाब के महान गुरू नानक पर भी कबीरदास का महत्वपूर्ण प्रभाव था। कबीरदास पर बौद्ध तंत्रागम से प्रभावित सिद्धों एवं नाथों के महान आचार्य गुरू गोरखनाथ का प्रभाव था। बाद में वे उत्तर भारत के महान वैष्णव आचार्य रामानंद से भी प्रभावित हुए। 15वीं शताब्दी से कबीरपंथ एक स्वतंत्र सम्प्रदाय के रूप में विकसित हुआ। डा. अम्बेडकर का परिवार एक कबीरपंथी परिवार था। बहुजन समाज पार्टी के संस्थापक मान्यवर कांशीराम का जन्म एक नानकपंथी सिख परिवार में हुआ था। डा. अम्बेडकर के ज्यादातर उत्तर भारतीय अनुयायियों का परिवार ज्यादातर महान भक्त संतों के पंथ, मठ या आश्रम से संबंधित रहा है। कबीर, तुकाराम, नामदेव, नानक, रविदास (रैदास), दादू, ताना आदि गैर–ब्राह्मण संतों के सवर्ण अनुयायियों की संख्या भी कम नहीं रही है। भारत में भक्ति सम्प्रदाय का जन्म पहले

दक्षिण भारत में हुआ। लेकिन दक्षिण भारत के भक्तों का सीधे–सीधे उत्तर भारत पर प्रभाव नहीं हो गया। ईसा–पूर्व छठी शताब्दी से 12वीं शताब्दी तक उत्तर भारत में बौद्ध धर्म का नियंत्रण नालंदा के महान गुरूकुल और बौद्ध विहार से होता था। 13वीं शताब्दी में बख्तियार खिलजी ने नालंदा के गुरूकुल (बौद्ध विश्ववि ।ालय) और बौद्ध विहार को नष्ट कर दिया। कुछ बौद्ध भिक्षु तिब्बत और अन्य स्थानों पर चले गए। अन्य लोग देश के विभिन्न भागों में सिद्ध और नाथ योगी के रूप में बिखर गए। 14वीं शताब्दी में उत्तर भारत के भक्ति सम्प्रदायों के विकास में इन सिद्धों और नाथ योगियों की महत्वपूर्ण भूमिका रही। लेकिन एक स्वतंत्र धर्म के अंत में अनागरिक धर्मपाल के भारत आने और महाबोधी सोसाइटी के निर्माण (1891) के बाद ही हो पाया।

डा. अम्बेडकर और उनके अनुयायियों के धर्म परिवर्तन (1956) के बाद भारत में बौद्ध धर्म का नवोदय शुरू होता है। डा. अम्बेडकर ने भारत में बौद्ध धर्म को दलितों के संस्कृतिकरण के वैकल्पिक मॉडेल के रूप में तो विकसित किया ही, इसे गृहस्थ धर्म के रूप में युगानुकूलित भी किया। भगवान बुद्ध ने खुद भिक्षुओं के लिए और गृहस्थों के लिए अलग–अलग धर्मों का उपदेश किया था। अनागरिक धर्मपाल ने थेरवादी परंपरा के भिक्षुओं को संगठित करने के क्रम में भिक्षु धर्म को ही बौद्ध धर्म के रूप में प्रतिष्ठित किया था। यूरोप के प्राच्यविदों के प्रभाव में ज्यादातर जापानी एवं अन्य

बौद्ध विद्वानों ने भी बौद्ध धर्म के टेक्युअल (धार्मिक साहित्य एवं पाठों) स्रोतों के आधार पर जो बौद्धिक विमर्श प्रस्तुत किया उसमें भी भिक्षु धर्म की आध्यात्मिक साधना और आत्मसाक्षात्कार एवं निर्वाण प्राप्ति की यौगिक एवं तांत्रिक क्रियाओं पर ही ज्यादा जोर था। कुल मिलाकर 1956 तक के बौद्ध विमर्श में शास्त्र पक्ष एवं भिक्षु धर्म पर जोर था। कुमारस्वामी ने बौद्ध कला को दुनिया के सामने रखा। लेकिन बौद्ध धर्म के लोकपक्ष एवं गृहस्थ धर्म को दुनिया के सामने समकालीन परिपेक्ष्य में रखने वाले डा. अम्बेडकर पहले व्यक्ति हुए। इसी प्रक्रिया में उन्होंने थेरवादी परम्परा के लोकपक्ष को महायान बौद्ध धर्म के सामूहिक निर्वाण वाले आध्यात्मिक पक्ष के साथ जोड़कर व्यक्तिगत निर्वाण के थेरवादी भिक्षु धर्म को अपने बौद्ध विमर्श का गौण स्थान दिया। बौद्ध तत्व मीमांसा के इतिहास में एक महान धर्मसुधार आंदोलन का सूत्रपात था। इसकी तुलना काल्विन द्वारा शुरू किये गए ईसाई धर्म के प्रोटेस्टैंट ईसाई नैतिकता (इथिक) ने पूँजीवादी कार्य संस्कृति के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी, उसी तरह डा. अम्बेडकर के बौद्ध नैतिकता वाले लोक धर्म ने भारत के दलित समुदाय के बीच राजनीतिक कार्य संस्कृति विकसित कर गैर–उपनिवेशवादी प्रजातंत्रीय व्यवस्था को संपुष्ट करने में निर्णायक भूमिका निभायी है।

डा. अम्बेडकर के विचार में स्वविवेक एवं बहुजन के हित और बहुजन के सुख को बढ़ाने वाला सामाजिक कर्म

बौद्ध धर्म की सबसे प्रमुख नीति है। बौद्ध धर्म की नैतिक व्यवस्था के केन्द्र में आत्म–प्रकाश से भरा हुआ स्वतंत्र व्यक्ति है जो समाज के सभी सदस्यों को समान समझता है तथा उनके प्रति भ्रातृत्व या बंधुत्व की भावना रखता हो। इस धर्म में जन्म पर आधारित जाति या छुआछूत के लिए कोई स्थान नहीं है। जो धर्म मनुष्य–मनुष्य में भेद करे और दूसरे समुदाय के लोगों को चाहे किसी भी आधार पर तुच्छ समझे वह धर्म हो ही नहीं सकता। डा. अम्बेडकर के अनुसार बौद्ध धर्म सम्पूर्ण मानवता का धर्म है। 'धम्म' के अनुसार सभी मनुष्य समान हैं। सत्य, अहिंसा, करूणा और दया बौद्ध धर्म की पारिभाषिक विशेषता है। बौद्ध धर्म भारत देश की परंपरा और संस्कृति का अभिन्न अंग है लेकिन हिन्दू धर्म की भांति इसमें असमानता एवं छुआछूत जैसी भावना या शोषण और उत्पीड़न को धार्मिक मान्यता नहीं है।

डा. अम्बेडकर एक ऐसे धर्म की खोज में थे जो किसी वर्ग–विशेष का नहीं बल्कि सारी मानवता का धर्म हो सके। साम्यवादी दृष्टिकोण को डा. अम्बेडकर एक खतरा मानते थे। उनकी दृष्टि में सामाजिक व्यवस्था के संतुलन के लिए धर्म एक सामाजिक आवश्यकता है। साम्यवादी व्यवस्था की भौतिकता के प्रति अति आग्रह और वर्ग संघर्ष में हिंसा की वकालत उन्हें मानवता के लिए अभिशाप लगती थी। उनके अनुसार बौद्ध धर्म ही एक ऐसा धर्म है जो साम्यवाद का विकल्प हो सकता है। अगर कोई दर्शन कार्ल मार्क्स का

सम्पूर्ण उत्तर दे सकता है तो वह बौद्ध धर्म ही है। उन्होंने तो यहाँ तक कहा कि बौद्ध धर्म, ईसाई मत वालों के लिए मान्य हो सकता है। क्योंकि ईसाई मत की 90 प्रतिशत मान्यताएं बौद्ध मान्यताओं के अनुरूप है। जेलियट जैसे विद्वानों ने तो साफ कहा है कि ''अम्बेडकर की नव धर्म दीक्षा, मार्क्सवाद के विरूद्ध की गई मोर्चा बंदी है।'' जबकि एडमंड वेबर के अनुसार यह ईसाई धर्म परिवर्तन की संभावना को अछूतों के बीच नहीं पनपने देने की डा. अम्बेडकर की दूरदर्शी नीति थी।

जो भी हो, आज डा. अम्बेडकर वंचित समूह के सबसे प्रमुख सिद्धांतकार बन चुके हैं। आज महात्मा गांधी और डा. अम्बेडकर भारतीय सभ्यतामूलक विमर्श के समकालीन सिद्धांतकार हैं। महात्मा गांधी का विमर्श भारतीय समाज के बहुसंख्यक हिन्दुओं के दृष्टिकोण की सभ्यतामूलक अभिव्यक्ति है तो डा. अम्बेडकर का विमर्श भारतीय समाह के अल्पसंख्यक बौद्धों की दृष्टिकोण की सभ्यतामूलक अभिव्यक्ति है। वे एक अन्य अर्थ में दलित समुदाय के सबल्टर्न दृष्टिकोण के भी प्रवक्ता रहे हैं। वे पश्चिमी लिब्रल डेमाक्रेसी और गैर साम्यवादी व्यवस्था के नेहरू युग में गिने–चुने प्रवक्ताओं के रूप में भी तत्कालीन विकास चर्चा में गौण धारा (सबल्टर्न का एक अर्थ वंचित समूह है तो दूसरा अर्थ गौण धारा भी है) के प्रतिनिधि थे।

अध्याय 4

डा. बी.आर. अम्बेडकर, बौद्ध धर्म एवं विश्व ग्राम

डॉ. बी.आर. अम्बेडकर, बौद्ध धर्म एवं विश्व ग्राम

ज़्यादातर समीक्षक डॉ. बी. आर. अम्बेडकर की दलित मसीहा के रूप में एकांगी व्याख्या करते हैं। परंतु उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि डॉ. अम्बेडकर अपने युग के महान् चिंतक थे जिसे नेहरू और इंदिरा युग में मार्क्सवादी विद्वानों ने जातिवादी और संकीर्ण सोच वाले दलित हित चिंतक मानकर उपेक्षित किया। लेकिन जैसे–जैसे भारत में उदारवादी अर्थनीति और राजनीति का भारतीय में दलित आंदोलन और बहुजन समाज पार्टी का भी विकास होता गया। उदारवादी विश्व व्यवस्था में बहुसांस्कृतिक चेतना के प्रति आग्रह और सभ्यताओं के संघर्ष की आशंका में सैम्यूल हटिंगटन के फॉरेन अफेयर्स नामक प्रतिष्ठित पत्रिका में व्यक्त की गई। बढ़ती उम्र और चीन के भीतर तिब्बत मसले के लगातार उलझते जाने के कारण दलाई लामा की छवि बौद्ध समाज में अधिकाधिक आध्यात्मिक धर्म गुरू की बनने लगी जबकि वास्तव में मार्च तक वे तिब्बत राष्ट्र के पारम्परिक राष्ट्राध्यक्ष थे। के दशक में अमेरिकी दबाव में जापानी अर्थव्यवस्था को अपने अत्यधिक तेज रफ़्तार से लाभ मिलने

के कारण हानि उठानी पड़ी। रोनाल्ड रीगन के उत्तराधिकारी जॉर्ज बुश सीनियर ने सैनिक हस्तक्षेप की धमकी देकर के बीच जापानी सरकार को डालर के मुकाबले जापानी मुद्रा येन का अवमूल्यन करने के लिए विवश किया। तब से जापानी समाज में अमेरिकी प्रभाव से मुक्त होने, अपनी सेना खड़ी करने की आवाज़ उठने लगी। द्वितीय विश्वयुद्ध में हारने के बाद अमेरिका ने जापान पर न सिर्फ दो एटम बम गिराए (हिरोशिमा और नागासाकी पर) बल्कि जापानी सेना को भंग कर के अमेरिकी सेना द्वारा संरक्षित रहने को विवश किया। तब से जापानी लोग अपने खर्च से अमेरिकी बेड़े के संरक्षण में रहने के लिए सामरिक रूप से विवश हैं। लेकिन इन व्यवस्था में भी बौद्ध और तुकोगावा धर्म मानने वाले जापानियों ने अभूतपूर्व आर्थिक विकास किया। के दशक में वह अमेरिका से आगे निकल गया था लेकिन 1990 के दशक में अमेरिकी दादागिरी में उसकी अर्थव्यवस्था कृत्रिम मंदी का शिकार हो गई और चीन की अर्थव्यवस्था जापानी अर्थव्यवथा की तुलना में अमेरिका केंद्रित विश्वग्राम में फलने–फूलने लगी।

उपरोक्त संदर्भ में इस्लामिक आंतकवाद अमेरिकी दादागिरी के बीच सभ्यतामूलक संघर्ष लगातार बढ़ने लगा। अमेरिका–इराक संघर्ष से भी पहले अमेरिका–ईरान संघर्ष शुरू हुआ था। लेकिन जब सद्दाम हुसैन ने तेल नीति और मुद्रा नीति के मामले में अमेरिकी दादागिरी के आगे झुकने से इंकार कर दिया तो अमेरिका ने ईरान को सबक सिखाना चाहा।

लेकिन सद्दाम हुसैन जापानी राष्ट्राध्यक्षों की तरह मोम के पुतले नहीं थे। अतः अमेरिका–इराक संघर्ष डेढ़ दशक तक चलता रहा और सद्दाम हुसैन के पतन के बाद भी यह संघर्ष समाप्त नहीं हुआ है। इसी बीच सितम्बर को बिन लादेन के अलकायदा ने अमेरिकी सभ्यता एवं अमेरिकी सुरक्षा व्यवस्था के महाबली वाली इमेज को चकनाचूर कर दिया। अलकायदाा का हेडक्वार्टर अफगानिस्तान और पाकिस्तान के बीच वाले कबाईली इलाके में रहा है। जब अमेरिका ने अलकायदा के ख़िलाफ अफगानिस्तान में अभियान किया तो अलकायदा के लोग पाकिस्तानी इलाके में छुप गए। पाकिस्तानी सैनिक तानाशाह मुशर्रफ ऊपर से तो अमेरिका के आतंकवाद के ख़िलाफ अभियान में साथ हैं लेकिन भीतर से पाकिस्तान सेना, पाकिस्तानी गुप्तचर एजेंसी और धर्मांध मुसलमानों के संगठनों के दबाव में अलकायदा के संरक्षक भी हैं। चीन रणनीतिक कारणों से पाकिस्तान और अन्य अमेरिका विरोधी मुस्लिम राष्टों को आवश्यक संरक्षण एवं सहयोग देता रहता है।

उपरोक्त सभ्यतामूलक प्रतिस्पर्द्धा एवं संघर्ष के ज़माने में बौद्ध धर्म एवं बौद्ध सभ्यता की समन्वयकारी भूमिका के प्रति विश्वग्राम के संवेदनशील लोगों का लगाव स्वाभाविक रूप से बढ़ा है। भारत में बौद्ध धर्म के समकालीन सिद्धांतकार के रूप में बाबा साहब अम्बेडकर की प्रतिष्ठा हो चुकी है। वे न सिर्फ भारत के भीतर, बल्कि विश्वग्राम के भीतर भी वंचित समूहों के दृष्टिकोण के सबसे प्रमुखा सिद्धांतकार के रूप में स्थापित हो

चुके हैं। ईसाई, मुस्लिम, कन्फ्युशियसवादी और हिन्दू जनसंख्या की तुलना में बौद्ध मतावलंबी अल्पसंख्यक हैं और बौद्ध धर्म शांति, करुणा और समन्वयवादी धर्म है। यह आधुनिक युग की प्रवृत्तियों के भी अनुकूल है। कई लोग जापान केंद्रित आर्थिक बौद्ध संप्रदाय, दलाईलामा के आध्यात्मिक बौद्ध संप्रदाय और डॉ. अम्बेडकर के राजनैतिक बौद्ध संप्रदाय के बीच समन्वय के प्रति आशान्वित हैं, जिससे विश्वग्राम में शांति एवं सद्भाव की प्रक्रिया को संबल मिलेगा।

डॉ. बी.आर. अम्बेडकर का बौद्ध धर्म संबंधी दृष्टिकोण

भारतीय मूल के पंथ एवं धार्मिक समूहों में बौद्ध धर्म का महत्व भारतीय समाज में बौद्ध धर्म के अलावा अनेक धर्म एवं संप्रदाय उल्लेखनीय हैं, जैसे वैष्णव, शैव, शाक्त, लिंगायत, कबीरपंथी, रैदासपंथी। बौद्ध व जैन जैसे प्रारंभिक धार्मिक समुदायों को श्रमण परम्परा कहा जाता है जबकि हिंदू धर्म से जुड़े संप्रदायों को वैदिक परम्परा कहा जाता है। इन धार्मिक समूहों और विस्तृत हिन्दू समाज के बीच परस्पर संबंध होता है। पंजाब में हिन्दुओं एवं सिक्खों के बीच विवाह के उदाहरण मिलते रहे हैं। बौद्ध व हिन्दुओं में भी वैवाहिक संबंध होते हैं। हिन्दु बनिया व जैनों के बीच गहरे सामाजिक व सांस्कृतिक संबंध हैं।

बौद्ध एवं जैन जैसे प्रारंभिक धार्मिक समुदायों के प्रभाव में पुरोहितों के प्रभुत्व और जातीय प्रस्थिति के महत्तव पर अकुंश लगा। बौद्ध धर्म ने सभी जीवों के प्रति करुणा की

भावना को धार्मिक महत्तव प्रदान किया। जैन धर्म ने अहिंसा के सिद्धांत को स्थापित किया। भगवान् बुद्ध ने शास्त्रों एवं पुरोहितों की सीमा स्पष्ट करके अपना दीपक खुद बनने की शिक्षा दी, जिससे समाज में विवेक एवं प्रज्ञा का महत्तव स्थापित हुआ।

तत्पश्चात् दक्षिण भारत में भक्ति संप्रदाय का छठी और ग्यारहवीं शताब्दी के बीच उदय हुआ। उत्तर भारत में चौदहवीं से सत्रहवीं शताब्दी के बीच उदय हुआ। उत्तर भारत में चौदहवीं से सत्रहवीं शताब्दी के बीच इस भक्ति संप्रदाय का प्रचार–प्रसार एवं संवर्धन हुआ। इसके प्रभाव से उदारवाद प्रकाश में आया, जिससे लोगों को आनुष्ठानिक व सामाजिक प्रतिबंधों से छूठ मिली। साथ ही ईश्वर के समक्ष समानता का सिद्धाँत प्रचलित हुआ। भारतीय मूल के अन्य पंथों में कबीर पंथ, रैदास पंथ, लिंगायत पंथ आदि भक्ति संप्रदाय से जुड़े हैं। औपनिवेशक शासनकाल में भारतीय समाज में अनेक नई सुधारवादी धाराएँ उभरीं। सुधार आंदोलनों में ब्रह्म समाज, आर्यसमाज, रामकृष्ण मिशन आदि की स्पष्ट भूमिका रही है। सुधार के इन्हीं प्रयत्नों को अणुव्रत आंदोलन, भूदान आंदोलन व स्वाध्याय आंदोलन के रूप में नए आयाम मिले।

अध्याय 5
सवधर्म

स्वधर्म स्वाभाविक होता है, सहज होता है। जीव के जन्म के साथ उसके स्वधर्म का जन्म भी होता है। स्वधर्म किसी को खोजना नहीं पड़ता। वह सहज ही स्वाभाविक रूप से मनुष्य को प्राप्त होता है। स्वधर्म का संबंध वृत्तियों से है। हर जीव की स्वाभाविक वृत्तियां होती है। स्वधर्म का संबंध वृत्तियों से है। हर जीव की स्वाभाविक वृत्तियां होती हैं। उसे खोजने कहीं जाना नहीं पड़ता। वह अपने आप जीव के पास आ जाती है।

इसी स्वधर्म के आधार पर भारतीय संस्कृति में पारंपकि वर्ण व्यवस्था का विकास हुआ है। इसके आदर्श रूप में स्वाभाविकता और धर्म दोनों हैं। जो व्यवसाय पुरखों के समय से चला आया है वह यदि नीति–विरुद्ध न हो तो उसी को करना, उसी उ़द्योग को आगे चलाना चातुर्वर्ण्य की एक विशेषता है। यह वर्ण–व्यवस्था आज अस्त–व्यस्त हो गयी है। उसका पालन आज बहुत कठिन हो गया है। आज शुरू के पचीस–तीस साल तो नये धन्धे सीखने में ही चले जाते हैं। काम सीख लेने पर फिर मनुष्य अपने लिए सेवा क्षेत्र, कार्य क्षेत्र खोजता है। इस तरह शुरू के पचीस साल तो वह

सीखता ही रहता है। इस शिक्षा का उसके जीवन से कोई संबंध नहीं रहता। वह मानता है कि वह भावी जीवन की तैयारी कर रहा है। शिक्षा प्राप्त करते समय मानो वह जीता ही न हो। जीना बाद में है। मानो जीना और सीखना ये दोनों चीजें अलग–अलग कर दी गयी हों। जिसका जीने के साथ संबंध नहीं, उसे मरना ही तो कहेंगे। इस तरह नया काम–धन्धा सीखने में ही पचीस–तीस वर्ष व्यर्थ हो जाते हैं। इससे उमंग और महत्व के वर्ष व्यर्थ चले जाते हैं। जो उत्साह, जो उमंग जन–सेवा में खर्च करके जीवन सार्थक किया जा सकता है, वह यों ही व्यर्थ चला जाता है। जीवन कोई खल नहीं है। परंतु आजकल जीवन का पहला अमूल्य अंश तो जीवन का काम–धन्धा खोजने में ही चला जाता है। हिन्दू धर्म न इसलिए वर्णाश्रम धर्म और बुनियादी शिक्षा की युक्ति निकाली है। इसका यह अर्थ नहीं है कि वर्णाश्रम धर्म में वंश परंपरा से चला आया व्यवसाय करने की ही बाध्यता है। भारतीय परंपरा में प्रयोग की भी गुंजायश है। गौतम बुद्ध और महात्मा गाँधी ने वंश परंपरा के साथ गुरु परंपरा और स्वगुण के आधार पर प्रयोग की इजाजत दी है। मूल प्रश्न यह है कि जीना और सीखना अलग–अलग नहीं होना चाहिए। हमें ऐसा व्यवसाय चुनना चाहिए जो जीवन यापन के साधन के साथ–साथ सृजनकारी और मुक्तिदायी दोनों हो। जो आत्म परिष्कार और ब्रहम उपासना दोनों का साधन हो। जब हम स्वधर्म में मग्न रहते हैं, तो रजोगुण फीका पड़ जाता है, क्योंकि तब चित्त एकाग्र होता है। चित्त स्वधर्म छोड़कर कहीं

जाता ही नहीं। इससे चंचल रजोगुण का सारा जोर ही ढ़ीला पड़ जाता है। जब नदी शांत और गहरी होती है, तो कितना ही पानी उसमें बढ़ आये, तो भी वह उस अपने पेट में समा लेती है। इस तरह स्वधर्म रूपी नदी मनुष्य का सारा बल, सारा वेग, सारी शक्ति अपने भीतर समा लेती है। स्वधर्म में पूरी शक्ति लगाने पर रजोगुण की दौड़ धूप वाली वृत्ति समाप्त हो जाती है। रजोगुण की चंचलता को जीतने की यही सनातनी रीति है। रज–तम का तो पूर्ण उच्छेद करना आत्म परिष्कार के लिए आवश्यक है। रजोगुण और तमोगुण के चले जाने पर शुद्ध सत्वगुण रह जाता है। जब तक हमारा शरीर कायम है, तब तक हमें किसी न किसी भूमिका मे रहना ही पड़ेगा। जब सत्वगुण का अभिमान हो जाता है, तक वह आत्मा को अपने शुद्ध स्वरूप से नीचे खींच लाता हैं सत्वगुण पर विजय पाने का अर्थ यह है कि उसके प्रति हमारा अभिमान, हमारी आसक्ति हट जाय। सत्वगुण को निहंकारी बना देना चाहिए। इसके लिए सत्वगुण को हम अपने अन्दर स्थिर कर लें। सातत्य से उसका अभिमान चला जाता है। सत्वगुण युक्त कर्मों को ही हम सतत करते रहें। उस अपना स्वभाव ही बनायें। जो बात स्वाभाविक है, उसका हमें अहंकार नहीं होता। सत्वगुण को निस्तेज करने की यह एक युक्ति है। दूसरी युक्ति है, सत्वगुण की आसक्ति भी छोड़ देना। इसके लिए पहले अहंकार को जीतना चाहिए। फिर आसक्ति को जीतने की कोशिश करनी चाहिए। सातत्य से अहंकार जीत सकते है। फलासक्ति को छोड़कर सत्वगुण से प्राप्त फल को भी

ईश्वरार्पण करने से आसक्ति पर विजय प्राप्त की जा सकती है। जीवन में सत्वगुण स्थिर हो जाता है, तब कभी सिद्धि के रूप में या कभी कीर्ति के रूप में फल सामने आता है। परंतु उस फल को भी तुच्छ मानकर, उसका भी त्यागकर आप मुक्ति के अधिकारी बन सकते हैं।

इसके लिए आत्मज्ञान और भक्ति का आश्रय लेना चाहिए। इसके बिना सांसारिक माया से पार पाना कठिन है। खासकर वैश्वीकरण, उदारीकरण और उपभोक्तावाद के इस देहवादी समय में । आत्म–ज्ञान की प्राप्ति केवल निवृत्ति मार्गियों के लिए आवश्यक नहीं है। प्रवृत्ति मार्गी भी इससे उतना ही लाभ प्राप्त कर सकते हैं। प्रवृत्ति मार्गी के पुरुषार्थ में भी वही चारो पुरुषार्थ आते हैं– धर्म , अर्थ, काम, मोक्ष। निवृत्ति मार्गी के मार्ग में भी यही चारो पुरुषार्थ आते हैं। अंतर केवल इतना है कि प्रवृत्ति मार्गी अर्थ और काम मे रस लेता हैं और निवृत्ति मार्गी इन्हें मुक्ति के लिए विचलन या चुनौती मानता है। निवृत्ति मार्गी ब्रहमचर्य आश्रम से सीधे सन्यास आश्रम में जाना चाहता है। यह श्रमण परंपरा कहलाता है। वह उत्कट साधना से जल्दी मुक्त होना चाहता है। लेकिन उत्कट साधना में मूलतः वह आत्माज्ञान के आधार पर अर्थ और काम की प्रवृत्ति को ही दृढ़ता पूर्वक जीतने के लिए लगा रहता है। उसकी साधना कठोर और अस्वभाविक जिद पर आधारित होती है। यह रास्ता सबके लिए नहीं है। यह जैन मनियों और बौद्ध भिक्षुओं तथा नाथपंथी नागा संन्यासियों का मार्ग है। दूसरी

ओर वैदिक परंपरा को मानने वाले आम नर–नारी वर्णाश्रम व्यवस्था के क्रमिक मुक्ति का स्वाभाविक एवं सहज प्रवृत्ति मार्ग चुनते हैं। इसमे चार आश्रमों में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष पाने का पुरुषार्थ प्रवृत्तियों को संतृप्त करके प्राप्त करने की कोशिश की जाती है।

इस मार्ग के लिए भी आत्मज्ञान जरूरी है। आत्मज्ञान की प्राप्ति के बिना स्वधर्म का ज्ञान नहीं होता। वर्ण–आश्रम का धर्म भी नहीं निभ पाता। व्यक्ति को अर्जुन की तरह स्वधर्म के बारे में दुविधा घरे रहती है। लेकिन हर व्यक्ति के आसपास कृष्ण जैसा गुरु उपलब्ध नहीं होता जो दुविधाओं का निराकरण कर सके। अतः सामाजिक रीतियों से और साम्प्रायिक आचार्यों से यथा संभव मदद मिलती है। प्राचीन काल में मूलतः चार प्रकार के व्यवसाय थे और तीन तरह के स्वगुण थे। सतोगुणी व्यक्ति के लिए ब्राहमण वर्ण के व्यवसाय उत्तम माने गए । सत्तोगुण और रजोगुण के मिश्रण वाले व्यक्तियों के लिए क्षत्रिय वर्ण के व्यवसाय उत्तम माने गईं रजोगुण और तमोगुण वाले व्यक्तियों के लिए शूद्र वर्ण के व्यवसाय सेवा देने वाले सर्विस सेक्टर के व्यवसाय होते थे। शूद्र वर्ण के व्यवसाय तकनीकी व्यवसाय होते थे जिससे उत्पादन और उपभोग के साधनों का सजृन एवं संवर्द्धन होता था। वैश्य वर्ण का व्यवसाय मूलतः उद्यम एवं व्यापार था जिससे वस्तुओं का बड़े स्तर पर उत्पादन तथा वितरण होता था। क्षत्रिय वर्ण काव्यवसाय शासन, प्रबंधन, न्याय एवं सुरक्षा

से संबंधित व्यवसाय था। ब्राहमण वर्ण के अंतर्गत शिक्षण, शोध, प्रशिक्षण, पौरोहिन्य, ज्योतिष, चिकित्सा, धार्मिक परामर्श, कल्याणकारी यज्ञ एवं सामाजिक मंगलदायक व्यवसाय आता था। खेती मनु के अनुसार वैश्य कर्म है लेकिन अन्य आचार्य इसे चारों वर्णों के लिए खुला व्यवसाय मानते हैं। वर्ण व्यवस्था में पंचम वर्ण की कोई अवधारणा नहीं रही है। पंचम के तहत वर्ण व्यवस्था से बाहर का समूदाय रहा है जिन्हें आप बाहरी एवं विधर्मी लोग कह सकते हैं। ऐसे लोग जो वर्ण व्यवस्था को नहीं मानते या जिन्हें वर्ण व्यवस्था से किसी कारण बस निकाल दिया गया हो। वर्ण व्यवस्था के तहत कार्यात्मक विभाजन एक पक्ष है। वर्णाश्रम धर्म या वर्णों का इथिक या नैतिक दायित्व इसका दूसरा पक्ष है। अधिकार के साथ कर्त्तव्य का निरूपण करना वर्णाश्रम धर्म की मूल विशेषता रही है। इसकी दूसरी विशेषता इसका लचीलापन रहा है। परशुराम और द्रोणाचार्य ब्राहमण वर्ण में उत्पन्न होकर भी क्षत्रिय थे। बुद्ध, महावीर एवं विश्वामित्र क्षत्रिय वर्ण में उत्पन्न होकर भी ब्राहमण माने गए। ब्रहमण ऋषि (ब्रहमर्षि) कहलाते। लेकिन कालक्रम मे वर्ण व्यवस्था में रूढ़ियाँ और कुरीतियाँ आ गयी। विदेशी दासता के युग में इसमें अंतर्विरोध भी आया। आधुनिक काल में बहुत सारे नये व्यवसाय आए जिन्हें किस वर्ण में रखा जाये यह समस्या रहती है। इसके बावजूद स्वधर्म के निर्धारण में वर्ण व्यवस्था की अवधारणा आज भी एक उपयोगी संदर्भ प्रारूप बन सकता है। कम से कम महात्मा गाँधी और विनाबा भावे जैसे उनके प्रमुख अनुयायी ऐसा मानते रहे हैं।

अध्याय 6
धर्म एवं सिनेमा

भारत में मंदिर केवल मूर्तिपूजा स्थल नहीं है बल्कि यह अपने आप में एक पवित्रतम जगह है। मंदिर में प्रवेश करते ही हमारी आत्मा एक शुद्ध वातावरण में प्रवेश करती है। मंदिर हमारे भीतर दैवीय अनुभूतियों को भरता है। यह हमें ईश्वरीय प्रेरणा एवं शांत वातावरण की परिधि में लपेट कर विशिष्ट बना देता है। नास्तिक व्यक्ति को भी थोड़ी देर के लिए ही सही, आस्तिक अनुभूतियों से भर देता है। भारत में मंदिरों के कई प्रकार हैं। इन्हें मूलतः उत्तर भारतीय एवं दक्षिण भारतीय मॉडलों में समझा जा सकता है। उत्तर भारतीय मंदिर, उत्तर भारतीय समाज एवं हिन्दी सिनेमा के बीच अन्योन्याश्रित संबंध है, जिसे दक्षिण भारतीय संदर्भ से अलग करके देखना एवं समझना पड़ेगा। दक्षिण भारतीय मंदिर, दक्षिण भारतीय समाज तथा दक्षिण भारतीय सिनेमा ऐतिहासिक रूप से एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। ऐतिहासिक विकास एवं भाषाई विन्यास की दृष्टि से दक्षिण एवं उत्तर भारत का विकास अलग अलग तरह से हुआ है। फलस्वरूप इनको एक साथ समझने में व्यवहारिक कठिनाईयाँ आती हैं। सैद्धांतिक स्तर पर भी इनको एक फ्रेमवर्क में नहीं समझा जा सकता।

अँग्रेजी राज में शंकराचार्य की सैद्धांतिक शब्दावली में, भारत के मंदिरों की व्यवस्था समझने समझाने की कोशिश होती रही है जबकि भारतीय समाज के भीतर रामानुजाचार्य एवं वल्लभाचार्य जैसे भक्तिआचार्यों का प्रभाव ज्यादा रहा है। शंकराचार्य की व्यवस्था के अनुसार भारत के चारों कोनों में मठों का निर्माण हुआ था। दक्षिण में श्रृंगेरी, उत्तर में बद्रीकाश्रम, पूर्व में पुरी, एवं पश्चिम में द्वारका में शंकरपीठ बनाए गए। इसके साथ शंकराचार्य ने नागा संन्यासियों का दशनामी सम्प्रदाय भी बनाया था। लेकिन गृहस्थ हिन्दुओं के लिए भक्ति आंदोलन के दौरान अनगिनत मंदिरों का निर्माण हुआ और इनकी पूजा पद्धति विकसित हुई जिस पर भक्ति साहित्य का प्रभाव है। दुर्भाग्य से भक्ति साहित्य के धार्मिक एवं साम्प्रदायिक महत्व का अब तक अध्ययन नहीं हुआ है। इसे मात्र कथा एवं काव्य तथा नाट्य साहित्य मानकर अध्ययन हुआ है। 12वीं शताब्दी से 17वीं शताब्दी तक खासकर उत्तर भारत में भक्ति साहित्य की अविरल धारा लगातार बहती रही जिसके प्रभाव में उत्तर भारत का समाज और उत्तर भारत के मंदिरों की पूजा पद्धति विकसित हुई।

18वीं शताब्दी से अंग्रेजी राज भारत में आया जिसने भारतीय समाज का आधुनिकीकरण शुरू किया परंतु इसका दक्षिण एवं उत्तर भारत में अलग–अलग प्रभाव पड़ा। इस प्रभाव को उत्तर एवं दक्षिण भारत के आधुनिक साहित्य एवं सिनेमा में आसानी से देखा जा सकता है। परंतु समाज विज्ञानों में

स्टडीज़ (भारतविद्या अध्ययन या अभिगम) के तहत पश्चिमी विद्वानों ने हिन्दू शास्त्रों के आधिकारिक पाठों को संपादित एवं प्रकाशित किया जिस पर यूरोपीय मान्यताओं का स्पष्ट असर है। यूरोपीय मान्यताओं के अनुसार शंकराचार्य को अखिल भारतीय स्तर का एक मात्र सिद्धांतकार घोषित किया गया तथा उत्तर भारतीय मंदिरों को दक्षिण भारतीय मंदिरों का भग्नावशेष माना गया। यह माना गया कि मुस्लिम आक्रमण के दौरान उत्तर भारत की व्यवस्था टूट गई थी। फलस्वरूप उत्तर भारत के श्रद्धालु मंदिरों में ईश्वर की प्रतिमाओं को स्पर्श करने लगे जबकि दक्षिण में श्रद्धालु मंदिरों में ईश्वर की प्रतिमाओं का स्पर्श नहीं कर सकते, केवल दूर से दर्शन कर सकते हैं।

यह एक प्रकार का कृत्रिम अनुमान है जिसका उत्तर भारतीय समाज से कोई लेना देना नहीं है। साहित्य, ज्योतिष, आयुर्वेद, दर्शन, नीतिशास्त्र, कृषि, त्योहार, व्रत, मंत्रोपचार और सामाजिक रीतिरिवाज का पारंपरिक सिद्धांतों के तहत में समन्वित अध्ययन होना अभी बाकी है। समकालीन समय में स्वामी विवेकानन्द एवं महात्मा गाँधी ने भारतीय समाज को समझने के लिए अलग अलग विमर्श विकसित किया है । दोनो विमर्शों में भारतीय समाज की समकालीन परिस्थिति के लिए एक प्रकार का क्षोभ एवं क्रोध है जबकि भारत के पारंपरिक विमर्श की भाषा में करूणा पाई जाती है। उदाहरण के लिए भगवान बुद्ध और रामकृष्ण परमहंस की भाषा में करूणा है।

ईश्वर की बनाई दुनिया में ईश्वरीय सत्ता की सूक्ष्म उपस्थिति हर जगह है। इस उपस्थिति के प्रति मनुष्य का अज्ञान ही उसे एक त्रासदी से दूसरी त्रासदी में घसीटता है। 'माया' महाठगिनी रही है। लोभ, मोह, मद, क्रोध, अहंकार ने बहुतों को नचाया है। नारद जैसे महामुनी तक को नचाया। विश्वामित्र जैसे महर्षि को भरमाया। रावण जैसे महान योद्धा और महान पंडित को कुमार्ग पर ले गया। संतोष नहीं हो तो माया बहुत छकाती है। मंदिर के दर्शन से माया की ताकत घटती है और विवेक बढ़ता है। इसीलिए हिन्दू मंदिरों में अधिकांश समय श्रद्धालुओं की भीड़ लगी रहती है।

नेहरू के चमत्कारिक व्यक्तित्व और आभामंडल से प्रभावित होकर हिन्दुस्तानी सिनेमा में जिस प्रकार के नायक और कथानक को 1948 से 1962 तक फिल्मों की व्यावसायिक सफलता की गारंटी माना जाता था वह धीरे–धीरे व्यावसायिक अनिश्चितता का खेल बन गया। दर्शकों में यह विचारधारा, यह कलात्मक संवेदना, यह सौंदर्यशास्त्र अपना आकर्षण खोता गया और नई प्रवृत्तियों, नए रुझान वाले निर्माताओं का आगमन हुआ। 1962 में राजश्री प्रोडक्शंस की पहली फिल्म 'आरती'(1962) आई। अशोक कुमार, प्रदीप कुमार और मीनाकुमारी की इस फिल्म ने ताराचंद बड़जात्या और राजश्री प्रोडक्शन को स्थापित कर दिया। 1962 में ही संगीतकार हेमंतकुमार निर्माता बने और उनकी बिना सितारा वाली हॉरर फिल्म 'बीस साल बाद' केवल अपने गीत, संगीत

और पार्श्व संगीत के बल पर 1962 की सफलतम फिल्म बन गई। 1962 में ही पहलवान दारा सिंह की पहली फिल्म 'किंगकांग' आई, जो 1962 की 5वीं सबसे सफल फिल्म थी ।

हिन्दू चेतना के फिल्मकारों में दूसरा वर्ग उन लोगों का है जो महात्मा गाँधी, सी.राजगोपालाचारी, आर.के. नारायण,शिवराम कारंत के प्रभाव में फिल्में बनाते थे । इनमें सबसे प्रमुख नाम एस.एस.वासन, एल.व्ही.प्रसाद, श्रीधर, के. विश्वनाथ, एस.रामानाथन जैसे फिल्मकारों का है।

हिन्दू चेतना की तीसरी अभिव्यक्ति आर्यसमाजी चेतना के फिल्मकारों की है। इसमें दो नाम सबसे उल्लेखनीय है पहला चेतन आनंद का जो गुरुकुल कांगड़ी से विधिवत शिक्षा लेकर फिल्मों में आये और 1946 से 1962 तक इप्टा के सक्रिय सदस्य रहे। उनकी 1962 तक की फिल्मों में आर्यसमाजी संवेदना पर मार्क्सवादी विचारधारा का प्रभाव है। लेकिन 1964 के बाद वे आर्यसमाज से सनातन धर्म की ओर बढ़ते चले गए। 1964 की 'हकीकत' से लेकर 'आखिरी खत', 'हीर रांझा', 'हंसते जख्म' से होते हुए वे 'कुदरत' और 'हाथ की लकीरें' जैसी सनातनी अवधारणाओं, कथानकों और आख्यानों के आधार पर हिंदी सिनेमा में पारम्परिक सौंदर्यशास्त्र के समकालीन प्रवर्तक बनते चले गए। दर्शकों ने इन्हें सराहा लेकिन फिल्म आलोचकों एवं समीक्षकों ने उनकी 1962 की इन क्लासिकल फिल्मों की उसी तरह उपेक्षा की जिस तरह इप्टा में सक्रिय रहते हुए उनकी प्रयोगात्मक फिल्म 'अंजली'(1957)

को दर्शकों ने प्रमादवश नजरअंदाज किया था। समाज सुधार की कहानियाँ इन लोगों ने भी बनायीं। समाज सुधार की इनकी कहानियों पर पी.वी.काणे के धर्मशास्त्र के इतिहास का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है । ये लोग धर्मसुधार की बात नहीं करते, परन्तु सनातन या वैदिक धर्म के दायरे में समाज–सुधार या कुरीतियों के खिलाफ कथानक का चुनाव करते थे।

आर्यसमाज के वैचारिक दायरे में दूसरा महत्वपूर्ण नाम फिल्मकार बी.आर.चोपड़ा का रहा है। वे समाज सुधार के साथ धर्म सुधार के आर्यसमाजी सरोकारों से शुरू से अंत तक बँधे रहे। वे मूर्तिपूजा, विधवा विवाह, तलाक, नाजायज औलाद, नाजायज प्रेम, सस्पेंस, थ्रीलर, रोमांस, हर तरह से समकालीन भारतीय समाज के ज्वलंत मुद्दे उठाते रहे लेकिन उनके कथानक का समाधान अधिकांशतः आर्यसमाजी संस्कारों से होकर निकला। इस काम में उनके स्टोरी डिपार्टमेंट में मुखराम शर्मा, राही मासूम रजा और नरेंद्र शर्मा जैसे बड़े साहित्यकारों की उपस्थिति से भी मदद मिली।

हिन्दू चेतना वाले चौथे वर्ग के फिल्मकारों में वे लोग आते हैं जो बंगाल नवजागरण के प्रभाव में पले–बढ़े। इन लोगों में सर्वप्रमुख नाम देबकी बोस, केदार शर्मा, बिमल रॉय, हेमेन गुप्ता, सत्येन बोस, असित सेन, ऋषिकेश मुखर्जी, राजकपूर, लेख टंडन, बासु चटर्जी , राजा नवाथे, प्रकाश अरोड़ा, रघुनाथ झालानी, दुलाल गुहा, रणधीर कपूर जैसे

फिल्मकारों का आयेगा। इन लोगों के ऊपर चंडीदास, रामकृष्ण परमहंस, बंकिमचंद्र और कुछ हद तक शरतचंद्र का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। गाँधी का प्रभाव भी कुछ हद तक इन पर दिखलायी देता है। लेकिन टैगोर और विवेकानंद का प्रभाव इन पर नहीं है। टैगोर और विवेकानंद केवल समाज सुधारक नहीं थे, ये लोग धर्म सुधारक भी थे ।

अंग्रेजी राज में भारतीय मुसलमानों ने देवबंद में एक गुरूकुल बनाया था। यह एक अद्‌भुत प्रयास है। इसकी आज भी प्रासंगिकता है। गुरूकुल कांगडी, शांतिनिकेतन एवं बी.एच.यू अप्रासंगिक हो चुके हैं। विवेकानंदवादियों ने अपना नारा जमीन पर नहीं उतारा। शांतिनिकेतन ही उनकी नीतियों के अनुकूल था।

सिनेमा मूलतः यहूदी, मुस्लिम, पारसी एवं पेगन माध्यम है। यह ईसाई मानसिकता की कला नहीं है। हॉलीवुड एवं बॉलीवुड दोनों जगह, सिनेमा के निर्देशन में ईसाई लोग वर्तमान की कथा कहने में अपवाद स्वरूप ही सफल हुए हैं । ईसाई फिल्मकार भूत–काल या भविष्य–काल की कथा को तो सिनेमा के माध्यम से कह पाते हैं लेकिन वर्तमान की कथा कहने में वे असहज एवं असंतुलित हो जाते हैं। यूरोपीय इतिहास में पेगन शब्द का प्रयोग सेमेटिक धार्मिक सम्प्रदायों–यहूदी, ईसाई, मुस्लिम–से पहले के मूर्तिपूजक, प्रकृतिपूजक धार्मिक समुदायों के लिए किया जाता रहा है। भारतीय उपमहाद्वीप में प्रचलित सनातन धर्म के सभी संप्रदाय जिन्हें

आज जैन, बौद्ध, आजीवक, शाक्त, शैव, वैष्णव, स्मार्त जैसे नामों से जाना जाता है तथा एशिया और अफ्रीका के वे धार्मिक संप्रदाय जो सेमेटिक धर्मों की तरह मनुष्य केंद्रित न होकर प्रकृति,ब्रह्माण्ड या ब्रह्म केंद्रित रहे हैं और जिसकी विश्वदृष्टि में मनुष्य चौरासी लाख योनियों में एक योनि मात्र है और किसी भी दृष्टि से अन्य योनियों में अभिव्यक्त जीवों में सर्वोच्च न होकर उनका सहोदर मात्र है। पेगन या सनातन धर्म के ही रूप है। सनातन धर्म की पारिभाषिक विशेषता पूर्णता है। हर प्रकार की अपूर्णता को यह असहज, अधर्म एवं अग्राह्य मानता है। आधुनिकता को पूर्ण बनाना हो तो अरस्तु, हिटलर एवं गाँधी का संश्लेषण एक मॉडेल है, मुहम्मद, मार्क्स एवं गाँधी का संश्लेषण दूसरा मॉडेल है। बुद्ध, चाणक्य एवं रामानुज का संश्लेषण एक तीसरा मॉडेल हो सकता है।

सनातनी फिल्मकारों ने अपने देश काल को अपनी कथा फिल्मों के केंद्र में रख कर एक नए सौंदर्यशास्त्र की सिनेमायी अभिव्यक्ति दी, जैसे 'श्री 420'(1955) फिल्म में निर्देशक राजकपूर ने नेहरू की नीतियों की आलोचना की है। इसमें एक मराठी महिला, इलाहाबादी राजकपूर को, पनाह देती है। उस वक्त मुंबई का भूगोल विकास के नाम पर फैल रहा था। नेहरू के औद्योगीकरण की नीति की बहुत सूक्ष्म आलोचना करना फिल्म 'श्री 420' का उद्देश्य था। टी.टी. कृष्णामाचारी ने नीति बनायी थी कि खनिज (मूलतः कोयला) अपने उत्पादन क्षेत्र में जिस कीमत पर मिलेगा, उसी कीमत

पर देश के हर क्षेत्र में मिलेगा। महानगरों के भीतर उद्योगों के विकास में इससे बहुत मदद मिली। उद्योगों का विकास समुद्र के किनारे बसे बंदरगाहों या नदी किनारे बसे नगरों में हुआ। इससे माल ढोने में सुविधा हुई। अतः मुंबई या चेन्नई केवल मराठियों या तमिलों की विरासत नहीं हैं । यह राष्ट्र की साझा विरासत हैं। इसी तरह पंजाब, 'हरित क्रांति' की राष्ट्रीय नीति के तहत प्रयोग स्थल बना।

बिमल रॉय ने अपनी फिल्म 'परख'(1960), गुरुदत्त ने अपनी फिल्म 'प्यासा'(1957), बी.आर. चोपड़ा ने अपनी फिल्म 'नया दौर'(1957), मनोज कुमार ने अपनी फिल्म 'उपकार'(1967) और शैलेन्द्र ने बासु भट्टाचार्य निर्देशित अपनी फिल्म 'तीसरी कसम'(1966) में नेहरू के भारत और गाँधी के सपनों के भारत में एक कलात्मक संघर्ष दिखलाया है। महात्मा गाँधी की नीतियों के केन्द्र में सहकार एवं सहकारी आंदोलन था। सहकारी समितियों के जरिये गाँवों का विकास उनका लक्ष्य था। नेहरू की नीतियों के अंत होते ही गाँधी की प्रासंगिकता बढ़ी है। नेहरू की सारी नीतियाँ गलत थी ऐसा कहना सरलीकरण होगा। उनकी विचारधारा समाजवादी थी । वे स्वभाव से तानाशाह थे। उनकी कुछ नीतियाँ युगानुकूल थीं, जो काल–बाह्य हो गयीं। देश नया–नया स्वतंत्र हुआ था। वे अंग्रेजी राज से अभिभूत थे। अतः उन्होंने कई क्षेत्रों में अंग्रेजों की नीतियों को जारी रखा। कुछ अन्य क्षेत्रों में वे सोवियत संघ से प्रभावित थे। विदेश नीति के क्षेत्र में उन्होंने

गुट–निरपेक्ष राजनीति करना चाहा । कश्मीर और तिब्बत के मुद्दे पर वे लड़खड़ाये। 1962 में चीन से वे हार गए । इस हार के बाद उनके कई समर्थक फ़िल्मकार नेहरूवादी फंतासी से ऊबकर स्वतंत्र फिल्में बनाने लगे। चेतन आनंद इनके प्रेरक बने। चेतन आनंद ने फिल्म 'हक़ीक़त'(1964), के द्वारा नेहरूवादी फंतासी की लोकप्रिय फिल्म, महबूब खान की 'मदर इंडिया'(1957) का तिलिस्म तोड़ कर, भारतीय समाज के यथार्थ की वस्तुनिष्ठ अभिव्यक्ति करने के लिए बहुआयामी कथानकों का नया संसार हिंदी सिनेमा के दर्शकों को दिखलाना शुरू किया। इसमें बी. आर. चोपड़ा की 'वक़्त'(1965), शक्ति सामंत की 'कश्मीर की कली'(1964), तथा 'आराधना'(1969), ऋषिकेश मुख़र्जी की 'असली–नकली'(1962), 'अनाड़ी' (1959), विजय आनंद की 'गाइड'(1965), राज खोसला की 'बॉम्बे का बाबू' (1960), अमरजीत की 'हम दोनों'(1961), दुलाल गुहा की 'धरती कहे पुकार के'(1969) तथा 'दुश्मन'(1971) , लेख टंडन की 'प्रिंस'(1969), के. शंकर की 'राजकुमार(1964)' क्लासिक फ़िल्में हैं।

गाँधी को स्वतंत्रता के बाद अपनी नीतियों को व्यवस्थित तरीके से अभिव्यक्त करने का मौका नहीं मिला। उनकी हत्या के बाद नेहरूवादी विद्वानों ने गाँधी की विरासत को तोड़–मरोड़ कर अपने अनुकूल कर लिया। लेकिन 1991 के बाद गाँधी का महत्व लगातार बढ़ा है। सिनेमा, साहित्य,

समाज तीनों जगह उनका महत्व बढ़ा है लेकिन सरकार के स्तर पर नेहरूवादी विरासत अब भी कायम है।

राजकुमार संतोषी द्वारा निर्देशित फिल्म 'अजब प्रेम की गजब कहानी'(2009) एक ईसाई फिल्म नहीं है बल्कि यह एक ब्रह्म–समाजी (केशव चन्द्र सेन) मानसिकता की हिन्दू फिल्म है। इसमें ईसा मसीह सशरीर आते हैं चूँकि जेनी गिरिजाघर में भक्तिभाव से बाइबिल पढ़ रही है। उसके पास अपने प्रेम को पाने का और कोई उपाय नहीं है। वह एक अनाथ ईसाई लड़की है जिसके पालक माता–पिता उसकी शादी एक अमीर ईसाई परिवार में करना चाहते हैं जबकि वह अंततः यह समझ लेती है कि प्रेम ही उसका असली जीवन साथी है। यह लैला–मजनूं टाइप प्रेम नहीं है। यह रोमियो–जुलियट वाला प्रेम भी नहीं है। यह हिन्दू प्रेम है। यह आत्म–साक्षात्कार से निकला दाम्पत्य वाले प्रेम का आधुनिक रूप है । यह संयोग है कि ईसामसीह सहयोग करते हैं। इस फिल्म में ईसा मसीह प्रेम के देवता के रूप में सामने आते हैं। ऐसे भी ईसा मसीह पर भारतीय दर्शन के प्रभाव को अब स्वीकार किया जाने लगा है। दुनिया भर में क्रिसमस के जश्न के बीच भारत के साथ ईसामसीह के लंबे संपर्क का दावा किया गया है। कुछ इतिहासकारों का मानना है कि ईसामसीह ने अपने जीवन के शुरूआती 17 वर्ष भारत में बिताए थे। उन्होंने 13 से 30 साल की उम्र तक भारत में बौद्ध धर्म और वेदों का अध्ययन किया था।

ब्रिटिश फिल्म निर्माता केंट वाल्विन कहते हैं, "बचपन में यीशु के परिवार के नाजरेथ (इजरायली शहर) में रहने के प्रमाण मिलते हैं। लेकिन जब उन्हें दूसरी बार नाजरेथ में देखा गया तब वह 30 साल के थे। यीशु ने कहा था कि जितने दिन वह गायब रहे उन्होंने अपनी बुद्धि और कद में विकास किया''। वर्ष 2009 के दयावती पुरस्कार विजेता वाल्विन, जो यीशु के शुरूआती जीवन पर ही आधारित फिल्म 'यंग जीससः द मिसिंग ईयर्स' बना रहे हैं, इसके अनुसार 'एपोस्टोलिक गासपेल्स (ईसा मसीह के जीवन पर प्राचीन धार्मिक वर्णन) और अभिलेखिय सामग्री' के मुताबिक यीशु को 13–14 साल की उम्र में अंतिम बार पश्चिम एशिया में देखा गया था। अभिलेखिय सामग्री में यीशु के भारत से संपर्क के कई संदर्भ मिलते हैं। रूसी चिकित्सक निकोलस नोतोविच की 1894 में आई किताब 'द अननोन लाइफ ऑफ क्राइस्ट' में भी इसी विषय को उठाया गया है। ये किताब नोतोविच की अफगानिस्तान, भारत और तिब्बत यात्रा पर आधारित थी। उनकी इस किताब में कई ऐसे संदर्भ मिलते हैं, जो बताते हैं कि यीशु भारत आए थे और उन्होंने यहां वेदों व बौद्ध धर्म का अध्ययन किया था। एक अन्य रूसी लेखक निकोलस रोइरिच के मुताबिक यीशु ने काशी (वाराणसी) समेत भारत के कई प्राचीन शहरों में समय बिताया था। जर्मन विद्वान होल्जर क्रिस्टन की किताब 'जीसस लिव्ड इन इंडिया' के मुताबिक यीशु ने सिंध में बौद्ध धर्म का अध्ययन किया था।

'अजब प्रेम की गजब कहानी'(2009) के ईसाई परिवार एवं पात्र में नायकत्व नहीं है। वे या तो खल पात्र हैं या हास्यास्पद पात्र हैं। नायकत्व तो सलमान खान को दिया गया है। उसे सूफी दरवेश की तरह, प्रेम के पुजारी की तरह पेश किया गया है। नायक काफी भोला है। वह अपनी प्रेमिका के लिए शाकाहारी होते हुए भी मांस खाने को तैयार है। ईसाई फिल्म होती तो गिरिजाघर में विवाह होता। कोर्ट में हुआ विवाह ईसाई धर्म में वैध नहीं है। उस स्थिति में नायक को धर्मांतरित होना पड़ता। पश्चिमी मानसिकता के फिल्म समीक्षकों को यह लगता है कि यह एक गंभीर फिल्म न होकर दिमागहीन कॉमेडी फिल्म है। 'चोरी चोरी'(1956) की प्रेम कथा को 'बॉबी' का तड़का लगाकर 'अंदाज अपना अपना'(1994) स्टाइल में पेश किया गया है। यह रणबीर कपूर की चौथी और सबसे सफल फिल्म है। 'सावरियां' (2007) ने पानी भी नहीं मांगा था। उस घोर असफलता के बाद 'बचना ऐ हसीनों' और 'वेकअप सिड'(2009) आयी थी। दोनों औसत सफल फिल्में थीं। इस चौथी फिल्म से रणबीर कपूर सितारा बन गया था। कैटरीना कैफ भी सुपर सितारा बन गई थी।

इसके निर्देशक राजकुमार संतोषी हैं। जिन्होंने एक्शन फिल्मों 'घायल'(1990), 'घातक'(1996), 'चाइना गेट'(1998), सोशल फिल्म 'दामिनी'(1993) ,कॉमेडी फिल्म 'अंदाज अपना अपना'(1994), सस्पेंस फिल्म 'खाकी'(2004) के बाद महाकाव्यात्मक फिल्म 'अजब प्रेम की गजब कहानी'(2009) बना

कर हिंदी सिनेमा के दर्शकों को झकझोर दिया। फिल्म देख कर लगा कि पी. एल. संतोषी जैसे महान फ़िल्मकार का बेटा राजकुमार संतोषी इस फिल्म के द्वारा अपने पिता को पिंडदान कर रहा है। वह पितृऋण उतार कर उभर रहे सनातनी भारत का स्वागत कर रहा है।

'अजब प्रेम की गजब कहानी'(2009) फिल्म में सूत्रधार एक पुरानी मूर्ति है । ईसाई फिल्मों में पत्थर की मूर्ति नहीं बोलती। दरअसल यह एक असजग हिन्दू कॉमेडी फिल्म है परन्तु भारतीय सौंदर्यशास्त्र, भारतीय विवाह एवं प्रेम की सनातन पद्धति और रस सिद्धांत से अनजान समीक्षकों को यह नहीं दिखायी देता, चूँकि इन लोगों की ठेठ भारतीय कहानियों, फिल्मों, मूर्तिकला, नृत्य और संगीत को समझाने वाली संवेदना और अनुभूति चेतना शून्य पड़ी हुई है।

प्रीतम का संगीत उबाऊ नहीं है। राजकुमार संतोषी ने वर्षों बाद एक सफल फिल्म बनायी थी। 'हल्ला बोल'(2008), 'खाकी'(2004), 'शहीद भगत सिंह'(2002), 'लज्जा'(2001), 'चाइना गेट'(1998) असफल फिल्में थीं। 'घायल'(1990), 'घातक'(1996), 'दामिनी'(1993), 'अन्दाज अपना अपना'(1994) के बाद 'अजब प्रेम की गजब कहानी'(2009) में सफलता मिलना संतोषी की रचनात्मकता के लिए एक अच्छी खुराक है। विशुद्ध हास्य फिल्म के रूप में 'अजब प्रेम की गजब कहानी' में गुदगुदाने वाले कई दृश्य हैं। खासकर वह दृश्य जिसमें स्मिता जयकर, दर्शन जरीवाला को बाथरूम जाने से रोकती है

क्योंकि बाथरूम में कैटरीना कैफ नहा रही होती है। प्रौढ़ प्रेम की वह अदा अद्भुत है। जाकिर हुसैन, गोविन्द नामदेव आदि ने भी अच्छा अभिनय किया है। परन्तु मूलतः फिल्म की जान रणबीर कपूर और कैटरीना कैफ ही हैं । दोनों ने मनोरंजक एवं मनभावन अभिनय किया है। इस फिल्म की पहले हफ्ते की कमाई 40 करोड़ थी, बाद में इसकी कमाई 134 करोड़ तक पहुंच गई।

'नमस्ते लंदन'(2007), 'वेलकम'(2007), 'सिंह इज किंग'(2008), 'पार्टनर'(2007), 'रेस'(2008) के बाद 'अजब प्रेम की गजब कहानी' कैटरीना कैफ की लगातार छठी सफलता थी। जबकि करीना कपूर ने अपने पूरे कैरियर में केवल चार हिट फिल्में दी हैं–'कभी खुशी कभी गम'(2001), 'ओमकारा'(2006), 'जब वी मेट'(2007, 'गोलमाल रिटर्न्स' (2008)। प्रियंका चोपड़ा ने 'वक्त' (1965), 'कृष', 'फैशन'(2008), 'दोस्ताना और कमीने' में सफलता पायी है।

श्रेष्ठ कलाकृतियाँ हमारी श्रेष्ठतम अनुभूतियों पर स्वर–संगति में प्रस्तुत नाद ब्रह्म की अनुकृति होती है। कलाकृति के सम्मोहन संस्पर्श से हमारे हृदय के सुप्त भावों और संवेदनों के तार झंकृत हो उठते हैं। कलाकृति से संसर्ग की प्रतिक्रियास्वरूप हम अंतरतम से आंदोलित होकर जागृत हो उठते हैं। हम अनकहे को सुनने लगते हैं। अप्रस्तुत को देखने लगते हैं। रचनाकार ने जो महसूस किया था उसे हम अपने हृदय में महसूस करने लगते हैं। रचना के आवाहन पर भूली–

बिसरी पुरानी स्मृतियां हमारे सामने अर्थवत्ता लेकर जागृत हो उठती हैं, भय और लालसाओं द्वारा दबा दी गई वे आशाएं, जिन्हें पहचानने की हिम्मत हममें नहीं होती, नए गौरव के साथ सामने उठ खड़ी होती हैं । हमारा मन वह कैनवास है, जिस पर कलाकार–रचनाकार अपने रंगों से चित्र अंकित करते हैं। हमारे संवाद उनके रंग हैं।

कला में समानधर्मी ह्रदयों के मिलन से अधिक श्रेष्ठ क्षण दूसरा नहीं होता। इस मिलन के क्षण में कलाप्रेमी अपने 'स्व' को पार कर जाता है। अनंत की, असीम की झलक पा लेता है। इस क्षण में उसकी आनंदानुभूति को स्थूल शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता। कला धर्म की तरह मानवता का उदात्तीकरण करने लगती है। कलाकृति हमारे लिए उसी हद तक मूल्यवान होती है, जिस हद तक वह हमसे संवाद करती है । हमारी अपनी वैयक्तिकता भी एक हद तक हमारी समझ की सीमा होती है। अंततोगत्वा हम संसार में अपना प्रतिबिंब ही देखते हैं।

जैसे हिन्दू समाज की विशिष्टता इसके सनातन धर्म तथा ग्रामीण समुदाय की तुलनात्मक स्वायत्तता में अभिव्यक्त हुई है, ठीक उसी प्रकार इस्लाम की विशिष्टता उसकी कला एवं शिल्प में अभिव्यक्त हुई है। उसी तरह यूरोप की विशिष्टता विज्ञान एवं तकनीक तथा प्रबंधन में अभिव्यक्त हुई है। राष्ट्रराज्य की संस्थाओं एवं राजनीतिक अर्थशास्त्र तथा मध्यकालीन यूरोप में कैथोलिक ज्ञानोदय, जिसे सामान्यतः

पुनर्जागरण कहा जाता है के प्रभाव में यूनानी तथा रोमन कला तथा शिल्प को पुनर्नवता दी गई। उसकी अभिव्यक्ति लियोनार्डो दा विन्ची, माइकल एंजेलो, राफेल, दांते तथा गोएथे की कलाभिव्यक्तियों में देखी जा सकती है। रामकृष्ण परमहंस, विवेकानंद, गाँधी, विनोबा और ओशो रजनीश ने इस्लाम को भी मुक्ति का एक पथ माना है। मूलतः यह भक्ति या प्रेम मार्ग है। कुछ हद तक इसे कर्म मार्ग भी कह सकते हैं। इसकी अभिव्यक्ति सूफी गीत–संगीत तथा इस्लामी शिल्प में हुई है।

किसी भी समाज में तकनीक के नए रूपों के आने से उत्पादन की संस्कृति बदलती है और किसी भी नए धार्मिक विश्वास के आने से उपभोग की संस्कृति बदलती है तथा प्रभावित होती है। भारतीय सिनेमा के कथानक में धार्मिक विश्वास, धार्मिक कर्मकांड, उपभोग की संस्कृति दिखलाने के क्रम में, सिनेमा कला का एक माध्यम भर ही नहीं है, इसमें विचारधारा की राजनीति भी स्थूल या सूक्ष्म रूप में सामने आती है।

हर समाज में बुरे लोग रहते हैं। हर समाज में प्रभु वर्ग विलासी होता है। हर समाज कुछ हद तक अपने प्रभु वर्ग का नियमन करना चाहता है। यथार्थ में न सही, साहित्य और कला में, अपने अन्यायी और अत्याचारी प्रभु वर्ग की कड़ी आलोचना करता है। अपने न्यायप्रिय और संयमशील शासकों को आदरांजली देता है। लेकिन जब राज्य का शासक धर्म का भी शासक बन जाता है तो आम जनता के सामने सीमित

विकल्प बचते हैं। धर्म का शासक जब राजनीति में अपना हित साधने लगता है तब भी यही होता है।

भारतीय सिनेमा में धार्मिक समुदायों का निरूपण भी हुआ है और विरूपन भी हुआ है। जैसे कुछ फिल्मों में यह संकेत किया गया है कि आम मुसलमान अपने बच्चों के स्वास्थ्य या शिक्षा के बारे में बहुत चिंतित नहीं रहता है। उसे लगता है कि अल्लाह सब ठीक करेंगे। वह फैमिली प्लानिंग के कृत्रिम उपाय नहीं आजमाता। उसके यहां ब्रहमचर्य पर भी जोर नहीं है। वह अपने धर्म पर आज भी अडिग है। उसे नहीं लगता कि उसके धर्म में परिवर्तन आवश्यक है। उसे नहीं लगता कि दुनिया गुणात्मक रूप से बदल गई है । आधुनिक दृष्टि से यह चाहे जितना अग्राह्य लगता हो परंतु भारत की पारंपरिक दृष्टि से इसमें क्या गलत है? सिवाय इसके कि वह अन्य धर्मों के प्रति असहिष्णु है । परन्तु यह असहिष्णुता तो पारंपरिक ईसाइयत, आधुनिक पूँजीवाद और मार्क्सवादी साम्यवाद में भी पायी जाती है । इसमें नया क्या है? यह तो आधुनिक हिन्दू सम्प्रदायों में भी आ गयी है ।

उसी तरह कुछ फिल्मों में हिंदू विश्वासों, संस्थाओं, कर्मकांडों या हिंदू व्यवस्था या पेशे की जान–बूझकर स्थूल या सूक्ष्म खिल्ली उड़ाई गई है। जबकि ऐतिहासिक या समाजशास्त्री दृष्टि से इसे न तो तार्किक माना जा सकता है, न न्यायसंगत। जैसे मध्यकालीन सामंतवाद और ब्रिटिश साम्राज्यवाद से उपजी बदहाली और असमानता को शोषण के

आर्थिक, राजनीतिक, तकनीकी संदर्भों से हटाकर, केवल हिंदू धार्मिक विश्वास या कर्मकांड से जोड़ देना, 1940, 50, 60, 70 के दशकों में, कला के नाम पर सिनेमा के व्यावसायिक माध्यम में, वैचारिक दुराग्रहों का लोकप्रिय फार्मूला बनकर उभरा था। इसकी प्रतिक्रिया 1960 के दशक से ही समाज, संस्कृति एवं सिनेमा में दिखने लगी थी। बाद में इन्हीं सिनेमाई दुराग्रहों को आधार बनाकर भारतीय राजनीति में दक्षिणपंथी विचारों को लोकप्रिय बनाने की अनवरत कोशिश होती रही। अंततः इसकी परिणति 1991 के आर्थिक उदारीकरण तथा अर्थव्यवस्था के खगोलीकरण में अभिव्यक्त होने लगी।

इस राजनीतिक आर्थिक परिवर्तन से निर्मित हिंदू धर्म के बारे में नया कलात्मक विमर्श विशिष्ट ठसक के साथ, 1994 की फिल्म 'हम आपके हैं कौन' (राजश्री प्रोडक्शन/सूरज बड़जात्या) में अभिव्यक्त हुआ। फिर 'दिलवाले दुल्हनिया ले जायेंगे' (यशराज फिल्म्स/आदित्य चोपड़ा) ने 1995 में इसे नई ऊँचाई दी। वामपंथी समीक्षकों ने इसे डॉलर सिनेमा कहना शुरू किया। मुख्यधारा के वामपंथी सिनेमा का स्वर्ण काल (1940 के दशक से 1960 के दशक) पहले अपने बिखराव के कारण 1964 में, फिर देश में आपातकाल (1975–1977) लगाए जाने के कारण, फिर वामपंथी कलाकारों की मृत्यु के कारण और अंत में निर्माताओं तथा वितरकों की लगातार उपेक्षा के कारण, आठवें दशक में विवादास्पद, असंतुलित और अकलात्मक माना जाने लगा था। वामपंथी फिल्में 1960 के

पूर्वार्ध तक मुख्यधारा की लोकप्रिय फिल्में थीं। लेकिन 1978–79 तक ईरान की धार्मिक क्रांति और 1991 में सोवियत संघ के पतन ने इन्हें अलोकप्रिय और अवांछनीय बना दिया। अब खुले आम कहा जाने लगा कि हिन्दू व्यवस्था सिद्धांतः दुनिया की सर्वश्रेष्ठ व्यवस्था रही है। लेकिन पिछले 800 वर्षों से लगातार विपरीत परिस्थितियों को झेलते झेलते इसका व्यावहारिक ताना–बाना जर्जर हो गया है ।

भारतीय प्रभुवर्ग की समस्या यह है कि हिंदी अखिल भारतीय स्तर पर न सरकारी भाषा है न लोक भाषा। बिना अपनी देसी भाषा के कोई भी संस्कृति या सभ्यता लंबे समय तक स्वायत्त बनीं नहीं रह सकती। सरकारी प्रयास या सामाजिक उत्साह के अभाव में, ले देकर भारतीय या हिंदुस्तानी सिनेमा ने ही पारम्परिक संस्कृति के संरक्षण–संवर्धन की ज्यादा बड़ी भूमिका निभायी है। दर्जनों भाषाओं से संपन्न भारतीय समाज, अपनी संस्कृति के संरक्षण संवर्धन के लिए, उपयुक्त शिक्षा का पाठयक्रम का विकास नहीं कर पाया है। यह देश सत्ता और सरकार से निरपेक्ष होकर आनंद में रहता है। प्रकृति ने भारत को अपने में आनंद से रत्त स्वायत्त ईकाई बनाया था जिसमें तीन तरफ से समुद्र और एक तरफ से पहाड़ था। यह तो हमने देश का बँटवारा हो जाने दिया। साथ ही तिब्बत चीन को दे दिया। वर्ना न हम किसी से लड़ते हैं न कोई हम से लड़ता ।

अंग्रेजी राज तक हिन्दू समाज में अपने आदर्श के लिए मर–मिटने वालों की संख्या निर्णायक थी। इसकी तुलना में अब अवसरवादी लुटेरों की संख्या कम से कम सार्वजनिक जीवन में निर्णायक हो गई है। आम आदमी अपनी सुविधाभर अपने आदर्श पर अब भी चलने की कोशिश करता है लेकिन दबाव बढ़ने पर वह भी समझौतावादी हो जाता है। हिन्दुओं की नई पीढ़ी आधुनिकता की गिरफ़्त में आ चुकी है। इनका लक्ष्य हर हालत में पैसा कमाना और शार्टकट से सफलता प्राप्त करना हो गया है। यह हिन्दू संस्थाओं की आंतरिक कमज़ोरी के कारण हुआ है। नई पीढ़ी नाम के लिए हिन्दू है परंतु उसके जीवन की प्रेरणा काल्विनवादी है या लोकवादी है। साधन–शुचिता अब कोई मुद्दा नहीं रह गया है। खासकर सार्वजनिक जीवन में। यह नज़रिया हिंदुत्ववादी माना गया। पर राजनीतिक हिंदुत्व की तुलना में भारतीय सिनेमा का कलात्मक हिंदुत्व एक चीज है। डॉलर सिनेमा (1994 से 2012) ने इसका सरलीकरण कर दिया था। 2012 के बाद से सामाजिक, राजनीतिक तथा सिनेमाई परिदृश्य बदला है।

इसका केवल इतना ही मतलब है कि वर्तमान इतिहास के दौर में हिन्दू समाज एक आत्म–सजग समाज के रूप में अप्रासंगिक होता जा रहा है। हिन्दू समाज संक्रमण काल से गुजर रहा है। अभी विश्व इतिहास के निर्णायक खेल में पारम्परिक इस्लाम 'ईश्वर' का युद्ध लड़ रहा है और पूंजीवादी ईसाई सभ्यता 'शैतान' का युद्ध लड़ रही है। इस निर्णायक

लड़ाई में दोनों एक–दूसरे को लहु–लुहान करेंगे। दोनों पस्त हो जाएंगे। शायद तब प्रभु की प्रेरणा से अन्य समाजों में नवचेतना आए।

लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि ईश्वर अब महत्वपूर्ण नहीं रहे। इसका यह मतलब नहीं है कि सत्य, न्याय, मंगल, कल्याण या मोक्ष अब मात्र शब्द हैं। आधुनिक मनुष्य, आधुनिक तकनीक और आधुनिक व्यवस्था भी ईश्वरीय लीला का ही विस्तार है। इसका केवल इतना ही अर्थ है कि ईश्वरीय खेल का स्वरूप बदल गया है। ईश्वरीय खेल के नियम बदल गए हैं। उदाहरण के लिए पोप फ्रांसिस, दलाई लामा, सैयद हुसैन नस्र, रैमंडो पन्निकार, जे.पी.एस. उबेराय, आचार्य महाप्रज्ञ, आनंद केंटिश कुमारस्वामी, ए.के. सरण के अनुयायी विकल्प की तलाश कर रहे हैं।

अध्याय 7
लोक परंपराओं का शास्त्र

हिन्द स्वराज भारतीय संस्कृति की आत्मा ('स्व') को समकालीन परिस्थिति के शरीर (संरचना) में संप्रभु (राज करने वाली स्वायत्त शक्ति) के रूप में स्थापित करने का रणनीतिक सिद्धांत है। भारतीय समाज में जिस तरह परम लघु मंत्र सारी समस्याओं का निदान माना जाता है उसी प्रकार हिन्द स्वराज में भारत की सारी समस्याओं का पारंपरिक इलाज है।

भारतीय सभ्यता सनातन परंपरा का एक ऐतिहासिक रूप है। विविधता इसका स्थायी स्वरूप या भाव है। यहाँ एकरूपता या एकरसता का भाव अस्वाभाविक, अप्राकृतिक एवं कृत्रिम माना जाता रहा है। भारतीय सभ्यता की व्याख्या या विश्लेषण के लिए कम से कम नौ प्रकार के दर्शनों (पूर्व मीमांसा, सांख्य, वैशेषिक, न्याय, योग एवं उत्तर मीमांसा (वेदांत) जैसे वैदिक, बौद्ध एवं जैन जैसे श्रमणिक एवं लोकायत जैसे प्राकृतिक अनुभववादी) की सहायता ली जाती रही है। मनुष्य, प्रकृति एवं ब्रह्माण्डीय शक्ति के लीलात्मक संबंधों के शिवत्व, सत्य एवं सौन्दर्य की थाह पाने के लिए नौ प्रकार के भाव या रस (शांत, करूण वात्सल्य, श्रृंगार, वीर, रौद्र, अद्भूत, हास्य, वीभत्स) की अवधारणा विकसित की गई है। प्रकृति एवं संस्कृति के द्वन्दात्मक संबंधों के विभिन्न सोपानों को ऋतु–चक्र

परिवर्तन (वसंत, ग्रीष्म, वर्षा, शरत्, हेमंत, पतझड़ (शिशिर) को अभिव्यक्ति दी गई। मनुष्य के स्वभाव को समझने के लिए चार वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) की अवधारणा विकसित की गई। हर व्यक्ति के जीवन में चार पुरूषार्थों (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) की प्राप्ति सहजता से हो सके इसके लिए चार आश्रमों (ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य या गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास) की व्यवस्था की गई। चार आश्रमों के अंतगर्त सोलह संस्कारों (गर्भाधान, पुंसवन, सीमंतोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकरण, कर्णभेद, विद्यारंभ, उपनयन? वेदारंभ, केशान्त, समावर्तन, विवाह, अंत्येष्टि) की विधि विकसित की गई। जो लोग वैकल्पिक माध्यम से जीवन जीना चाहते हैं उनके लिए श्रमण एवं प्राकृतिक अनुभववादी रास्ते सुलभ रहे हैं। तीनों रास्तों से वैवाहिक जीवन शुरू किया जा सकता है अतः 8 प्रकार के विवाह (ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गंधर्व, राक्षस, पैशाच) की व्यवस्था की गई है। विवाह का मूल उद्देश्य सृजन (संतान प्राप्ति/संतानोप्राप्ति) एवं पितृऋण से छुटकारा पाना रहा है भारतीय संस्कृति का केंद्र सूर्य है। प्रकाश–पुंज सूर्य की किरणों में सात रंग (बैंगनी, नीला, आसमानी, हरा, पीला, नारंगी, लाल) हैं। इन विविधताओं के बीच व्यवस्था की कम से कम चार वैकल्पिक (समानांतर) पद्धतियाँ फलती–फूलती रही हैं:– संप्रदायों एवं पंथों की धार्मिक पद्धति, जातियों की सामाजिक पद्धति, कुटुम्बों की नातेदारी पद्धति एवं राज्यों की राजनैतिक पद्धति। ये चारों

व्यवस्थायें एक—दूसरे की पूरक रही हैं। इनके अधिकार एवं कर्त्तव्य की सीमाएं संस्थाबद्ध रहीं हैं।

भारतीय सभ्यता में विचारधारा के तार्किक आग्रह की तुलना में आस्था एवं आस्तिकता का महत्त्व ज्यादा रहा है। किसी एक लक्ष्य के लिए विविधता धारण करने वाले संप्रदायों, जातियों, समूहों में समन्वय स्थापित करने की कोशिश करने के बदले एक—दूसरे के स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकारते हुए, एक—दूसरे की समस्याओं को समझते हुए, सभ्यता—मूलक एकता को संवर्धित करने की ओर ज्यादा जोर रहा है।

भारतीय सभ्यता में एकात्मता की तुलना में तादात्म्यता पर ज्यादा जोर रहा है। भूतकाल के वैभव की स्मृति के महत्त्व को स्वीकारने के बावजूद वर्तमान में आस्था रखना और वर्तमान में भविष्य केन्द्रित पुरूषार्थ करने पर ज्यादा जोर रहा है। सनातन जीवन दृष्टि एवं धर्म में सतत अध्ययन, मनन, चिन्तन, अभ्यास, अनुभूति, साधना, भक्ति एवं यज्ञ का महत्त्व वर्तमान में आस्था का अकाट्य प्रमाण है।

भारत के अंतर्गत रह रहे करीब 80 करोड़ सनातन धर्म के विभिन्न रूपों के अनुयायियों की अपनी—अपनी आस्थायें हैं। इन 80 करोड़ लोगों को किसी एक संगठन से जोड़ने का हर प्रयास अब तक असफल रहा है। भारतीय सभ्यता की विभिन्न इकाईयों में संस्कृति और सांस्कृतिक अवस्थाओं का स्वरूप तरल, लचीली, विस्तृत तथा गहरी अनुभूतियों के स्तर पर समझा एवं समझाया जाता रहा है। समझने एवं समझाने का

सबसे प्रमुख माध्यम, किसी व्यक्ति के जीवन का जीता जागता उदाहरण रहा है, किताबी अवधारणायें या पुरातात्त्विक तत्त्व चिन्तन नहीं है। संस्कृति नदी के जल और उसके बहाव जैसी चीज मानी जाती है और अवधारणायें इस चीज की अभिव्यक्ति न होकर इसकी ओर संकेत करने वाले प्रतीक या इस नदी के जल के ऊपर चलने वाली नाव जैसी चीज मानी जाती रही है।

पश्चिमी मानस में रसे–बसे–प्रशिक्षित विद्वानों एवं व्यक्तियों के लिए सनातन भारतीय सभ्यता एवं इसकी परंपराओं को समझना सदैव काफी मुश्किल रहा है। उस वक्त भी था जब स्वामी रामकृष्ण परमहंस अपना प्रवचन कर रहे थे और उस वक्त भी जब महात्मा गाँधी हिन्द स्वराज लिख रहे थे। आज भी स्थिति करीब–करीब वैसी ही है।

एक व्यक्ति के रूप में संस्कृतिक को जीना एक बात है। हर प्रतिबद्धता के बावजूद एक व्यक्ति संस्कृति को उपभोक्ता के रूप में ही जीता है और संस्कृति के विभिन्न रूपों को एक स्वाभाविक स्थिति के रूप में ही स्वीकारता है। इस प्रक्रिया में एक निष्क्रियता है। आम आदमी मूलतः एक व्यक्ति के रूप में ही या एक परिवार के रूप में ही तात्कालिक परिस्थिति को स्वाभाविक स्थिति मानकर जीता है। लेकिन वह उसके बहुआयामी स्वरूपों, निहितार्थों, फलितार्थों को भी समझता है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। यह काम विशेषज्ञों का है।

हर संस्कृति की अपनी समस्यायें होती हैं और उन समस्याओं के समाधान के लिए हर संस्कृति के अपने विशेषज्ञ होते हैं। परंतु विशेषज्ञों और गैर विशेषज्ञों के बीच हर संस्कृति में एक जैसा संबंध नहीं होता। उदाहरण के लिए, भारतीय संस्कृति में पारंपरिक रूप से विशेष ज्ञान या विशेष अनुभव रखने वाले किसी भी व्यक्ति या परिवार को विशेषज्ञ कहा जाता रहा है। परंतु पश्चिमी समाजों की तरह भारतीय समाज में विशेषज्ञों का कभी अलग वर्ग और गैर विशेषज्ञों का कोई अलग वर्ग नहीं रहा है। हमारे यहाँ हर व्यक्ति, परिवार, जाति एवं संप्रदाय का लक्ष्य किसी–न–किसी प्रकार की विशेष अनुभूति या विशेष ज्ञान का विशेष दक्षता (कुशलता) प्राप्त करना रहा है। इस प्रकार के विशेष ज्ञान, अनुभूति या दक्षता प्राप्ति के सामान्यता तीन स्रोत रहे हैं (1) शास्त्रीय प्रशिक्षण (2) लौकिक प्रशिक्षण (3) व्यक्तिगत साधना, तपस, अभ्यास। लेकिन सामान्यता एक ही परिवार में तीनों तरह से विशेषज्ञता प्राप्त की जाती रही है। इन्हें क्रमशः मार्ग कहा जाता है (ज्ञान मार्ग, कर्म मार्ग, भक्ति मार्ग)।

उसी तरह हर राज्य, साम्राज्य एवं राजनैतिक व्यवस्था को बनाने, चलाने एवं विस्तारित करने के लिए अपने विशेषज्ञ होते हैं। करीब–करीब हर राज्य, साम्राज्य एवं व्यवस्था के विशेषज्ञों का धीरे–धीरे एक वर्ग (प्रभु वर्ग) बन जाता है जो आम आदमियों की तुलना में ज्यादा साधन एवं अधिकार संपन्न होते हैं। संस्कृति में एक प्रकार की लोकतांत्रिकता या

सहभागिता होती है जिसकी जगह राज्य इत्यादि में अधिकार–कर्त्तव्य में गैर–बराबरी किसी–न–किसी तरह आ ही जाती है। प्रभु वर्ग की विशेषज्ञता हर राज्य व्यवस्था के लिए सामान्यतः आवश्यक समझी जाती है।

गुलामी के लंबे दौर में भारतीय संस्कृति को तो आम आदमियों ने व्यक्ति, परिवार, जातियों एवं संप्रदायों के स्तर पर कुछ हद तक बचाये रखा लेकिन इस संस्कृति के विशेषज्ञों और उनको पोषित करनेवाली संस्थाओं को नहीं बचाचा जा सका। उनके गुरूकुल नष्ट कर दिये गये। उनके विशेषज्ञों को या तो मार दिया गया या उनकी संस्थायें बर्बाद कर दी गई या उन्हें इतना लांछित किया गया कि उन लोगों ने अपने आप धीरे–धीरे स्वधर्म निभाना छोड़ दिया। फिर उनको लोभ–लालच देकर दूसरे कामों में लगा दिया गया; या, भारतीय संस्कृति को विरूपित और विखंडित करके विधर्मी साम्राज्य को पोषित करने वाली गतिविधियाँ चलाने का ''प्रोजेक्ट'' दे दिया गया। इस प्रोजेक्ट का दिशा– निर्देश, गति, निहितार्थ, फलितार्थ आदि साम्राज्य के विशेषज्ञों द्वारा पहले से तय कर दिये जाते थे। विधर्मी साम्राज्य बनते–बिगड़ते रहे। राज्य और इसके संसाधनों पर कब्जा करने के लिए केवल सैनिकों और सेनापतियों की आवश्यकता नहीं पड़ती, बुद्धिजीवियों और कलाकारों की भी आवश्यकता पड़ती है।

कोई भी साम्राज्यवादी सामान्यतया किसी देश पर विजय प्राप्त करने के उपरांत उस देश के निवासियों और

उनकी संस्कृति को पूरी तरह नष्ट नहीं करना चाहता। हर साम्राज्य को अपनी सुविधा एवं अपने लाभ के लिए गुलाम चाहिए, कुशल कारिंदे चाहिए, देशी परिस्थितियों में साम्राज्य के अनुकूल इंफ्रास्ट्रक्चर एवं संस्थायें चाहिए। इनके विकास में बहुत समय, श्रम और साधन लगता है। अतः साम्राज्य के रणनीतिकार अक्सर देशी परिस्थिति को अनुकूल बनाना, उस देश की संस्थाओं एवं विशेषज्ञों को नष्ट करने से बेहतर मानते हैं और केवल अपनी प्रभुता बनाये रखना चाहते हैं। स्पेन वालों ने कोलंबस द्वारा अमेरिका खोजने के बाद वहाँ के मूल निवासियों और वहाँ की संस्कृतियों के साथ जो किया वह एक तरह का अतिवाद था जिसकी जड़े धर्मान्धता में थी, साम्राज्यवाद में नहीं। अधिकांश साम्राज्यवादी मूलतः दो काम करते हैं (1) उस देश के कानून को अपने देश के कानून के अनुकूल बनाते हैं और (2) उस देश की व्यवस्था एवं सभ्यतामूलक संस्थाओं को पोषित करने वाली, विशेषज्ञों को पैदा करने वाली शास्त्रीय प्रणाली को तोड़ देते हैं। अन्य चीजों को नये साम्राज्य के फ्रेमवक से जोड़कर विरूपित कर दिया जाता है। इस दृष्टि से अंग्रेजों ने मैकॉले की शिक्षा नीति के तहत अपनी साम्राज्यवादी नीतियों को सूत्रबद्ध किया। इसके तहत भारत की शास्त्रीय प्रणाली को इसके जीवंत स्रोतों से काट कर सुखा दिया गया। देश की परंपराओं, रीति–रिवाजों, कानूनों को अप्रासंगिक बना दिया गया और इनके स्थान पर अंग्रेजी साम्राज्य को पोषित करने वाले, तथाकथित आधुनिक कानून एवं आधुनिक शास्त्रीय प्रणालियाँ लाद दी गई। भारत

के देशी विशेषज्ञों को संरक्षण एवं प्रोत्साहन देने की बजाय, उनके खिलाफ तरह–तरह के कुतर्क रचकर हर तरह की गड़बड़ी, कुरीतियाँ, असहिष्णुता एवं जलालत के लिए जिम्मेदार ठहराया गया और लांछित किया गया। दूसरी ओर, भारतीय परंपरा एवं शास्त्रीय प्रणाली के यूरोपीय विशेषज्ञ (इंडोलॉजिस्ट एवं ओरिएन्टैलिस्ट) तैयर किए गए जिन्होंने कुछ तो नासमझी बस और बहुत कुछ साम्राज्यवादी साजिश के तहत एक जीती–जागती सनातनी सभ्यता को एक ऐतिहासिक एवं पुरातात्त्विक खिलौने की तरह पेश किया। अंग्रेजों द्वारा प्रायोजित एवं आधुनिक पश्चिमी दृष्टि से प्रस्तुत इस भारतीय सभ्यता की सुन्दरता और सम्पूर्णता पर गर्व तो किया जा सकता था परंतु यह वर्त्तमान या भविष्य में एक स्वस्थ, समृद्ध एवं संतोषप्रद सामाजिक जीवन की आधारशिला नहीं बन सकती थी। अंग्रेजों के आने तक देश में जितने भी पारंपरिक शास्त्र एवं ग्रंथ भोजपत्र, ताड़–पत्र, ताम्र–पत्र, या अन्य माध्यमों में संप्रेषित थे उनका संग्रह एवं संपादन करने का साम्राज्यवाद उत्साह रंग लाया। आज जितने भी ग्रंथ एवं शास्त्र पुस्तकालयों या बाजारों में मिलते हैं उनके संस्करण या तो अंग्रेजी राज द्वारा तैयार कराये गये या अन्य यूरोपीय संस्थाओं द्वारा तैयार कराये गये हैं। उस वक्त के देशी रिसायतों द्वारा तैयार किये गये संस्करण भी यूरोपीय विद्वानों द्वारा या यूरोपीय मानकों पर यूरोपीय पद्धति द्वारा तैयार किये गये। फलस्वरूप, जब भारतीय लोगों में अपनी परंपराओं को एवं शास्त्रीय

पद्धतियों को जानने की आवश्यकता महसूस की जाने लगी तो गैर–यूरोपीय स्रोतों का अकाल दिखने लगा।

परंतु हमारे सौभाग्य से सनातन सभ्यता के भारतीय स्वरूप को गैर–यूरोपीय स्रोतों से समझना अब भी संभव है। शास्त्रीय परंपरा से हमारा जीवंत संबंध भले ही टूट गया है परंतु लोक परंपरा में जीवंत स्रोत अब भी बचे हुए हैं। सामी (सेमेटीक) परंपरा में दीक्षित होने के कारण अंग्रेज साम्राज्यवादियों ने अँग्रेजी राज के दौरान लोक परंपरा को निरीह और अशक्त समझकर अपने भरोसे जीने मरने के लिए छोड़ दिया था। उन्होंने अपनी पृष्ठभूमि के कारण भारत की लोक परंपरा की शक्ति को कम करके आंका। उन्हें केवल संस्कृत भाषा में लिखित और ब्राह्मणों द्वारा संरक्षित शास्त्री ज्ञान से खतरा लगा जबकि वाचिक परंपरा और लोक भाषाओं में उपस्थित लोकशास्त्रों की वे ठीक से पहचान नहीं कर सके। उन्होंने दर्शन, गणित और धर्म शास्त्रों को अपना निशाना बनाया। परंतु साहित्य, कला एवं लोक में व्याप्त पारंपरिक ज्ञान–विज्ञान, तकनीक, विधियों एवं रीतियों को या तो समझ नहीं पाये या इनके निहितार्थ एवं फलितार्थों के महत्त्व का आकलन नहीं कर पाये। वे इन्हें मनोरंजन के साधन एवं कौतूहल की वस्तु मानते रहे। सामान्यतया इनके प्रति अंग्रेजो की नीति सामान्यतः उदासीनता की रही परंतु कई बार मनोरंजन के साधन एवं सांस्कृतिक विविधता के साधन के रूप में उन्होंने इनको प्रोत्साहन एवं संरक्षण भी दिया। वे समझ

नहीं पाये कि पश्चिमी सामी सभ्यता के विपरीत भारतीय सभ्यता के केन्द्र में गणित, यांत्रिकी एवं धर्म शास्त्र की यूरोपीय अवधारणाओं से ज्यादा महत्त्वपूर्ण मिथक, साहित्य, कला एवं संगीत की गुणात्मक रूप से अलग, सनातनी अवधारणाएँ रही हैं। यह आकस्मिक नहीं है कि महात्मा गाँधी को प्रभावित करने वाले जॉन रस्किन मूलतः कला समीक्षक एवं कला–इतिहासकार थे और आनन्द कुमारस्वामी खुद ही कला समीक्षक एवं कला–इतिहासकार बन गये थे। भारत में विज्ञान एवं तकनीक की लोक–साधना कला के रूप में ही हुई है और संसार को लीला (नाटक) माना जाता रहा है। भारत में जब भी बड़ा सामाजिक परिवर्तन हुआ है तो उसका मानक एवं वाहक मिथकों एवं महाकाव्यों के रूपांतरण को माध्यम बनाकर हुआ है।

हर व्यक्ति अपनी समझ से ही विरोधियों को झुकाता, तोड़ता या लाचार बनाता है। विरोधियों की समझ और सभ्यता को समझकर बहुत कम तोड़ता–फोड़ता है। विजेताओं के अहंकार से की गई हत्या सामान्यतः सम्पूर्ण सभ्यता की हत्या नहीं होती। ठीक उसी तरह लोक साहित्य, लोक कलायें, लोक के रीति–रिवाज, कहावतें, मुहावरों एवं लोक धर्म की सांप्रदायिक परंपरायें अंग्रेजी राज में भी अक्षुण्ण रह गईं। परंपराओं को समझने का यह सूत्र भारत के आम जन को तो मालूम है ही चीन, रूस और यूरोप के गैर आधुनिक मनीषियों को भी मालूम रहा है। उदाहरण के लिए रस्किन, टाल्सटाय,

विलियम मॉरिस, रेने गुयेनो, लुई रेनेयू, जोसेफ कैम्पबेल, कार्ल जुंग, आनन्द कुमारस्वामी, मार्को पैलिस और कनफ्युशियस के समकालीन अनुयायियों जैसे माओत्से तुंग आदि लोगों को भी मालूम रहा है। गाँधीजी के हिन्द स्वराज के स्रोत ऐसी ही लोक परंपरायें रही हैं। हिन्द स्वराज का उद्देश्य देशी विशेषज्ञों की एक स्वराजी जमात पैदा करके सनातनी सभ्यता को पोषित करने वाली प्रणाली विकसित करना रहा है।

आज के भारत में उपरोक्त पारंपरिक अवधारणाओं, इसकी शब्दावलियों और इसके ऐतिहासिक रूपों को पुनर्जीवित करने की न तो कोई संभावना बची है और न इसकी कोई आवश्यकता ही है। समकालीन समस्याओं के समाधान के लिए की जाने वाली किसी भी गंभीर और प्रतिबद्ध कोशिश में इनसे प्रेरणा अवश्य ली जा सकती है। इनका पुनर्नवीनीकरण (रिमेनीफेस्टेशन) तो अवश्य हो सकता है लेकिन वह भी एक दिन में या एक साल में नहीं। इसमें समय लगता है। पीढ़ियाँ लगती हैं।

यह भारत का सौभाग्य है कि स्वामी रामकृष्ण परमहंस, महात्मा गाँधी, आनन्द कुमारस्वामी, डा0 भीमराव अंबेडकर आदि के प्रयासों से उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध से इस पुनर्नवीनीकरण की प्रक्रिया चल पड़ी है। अब यह रंग लाने लगी है। संभव है कि पाँच–दस सालों में सनातन संस्कृति को पोषित करने वाली संस्थाएं और इन संस्थाओं को पोषित करने वाले विशेषज्ञ सामने आयें। हिन्द स्वराज में महात्मा गाँधी का

उद्देश्य पारंपरिक मूल्यों, संस्थाओं और पद्धतियों को युगानुकूल भाषा में अभिव्यक्त कर इनके पुनर्नवीनीकरण की प्रक्रिया को संबल देना था।

हिन्द स्वराज लिखने के पीछे महात्मा गाँधी का मूल उद्देश्य अंग्रेजी राज या आधुनिक व्यवस्था के भीतर ऐसी ही संस्थाओं और विशेषज्ञों के स्वभाविक विकास के लिए सभ्यतामूलक विमर्श का निर्माण करना था। आज भी सनातन जीवन मूल्यों के प्रति प्रतिबद्ध लोगों की दृष्टि से हिन्द स्वराज ऐसी एकमात्र समकालीन पुस्तिका है जिससे संप्रदाय निरपेक्ष, सभ्यतामूलक विमर्श बनाने की प्रेरणा और मार्गदर्शन प्राप्त हो सकता है। इसे भारतीय संस्कृति के संप्रदाय निरपेक्ष सभ्यतामूलक स्वरूप से परिचय कराने वाली प्रारंभिक पुस्तिका के रूप में भी नई पीढ़ी को दिया जा सकता है। एक भारतीय व्यक्ति को गाँधीजी का हिन्द स्वराज एक सनातनी व्यक्ति के रूप में अपने समय और समकालीन चुनौतियों का न सिर्फ सामना करने का आत्मबल देता है बल्कि 'सत्यम, शिवम, सुन्दरम' को सफलता का मानदंड मानते हुए परम वैभव की प्राप्ति के लिए प्रेरित भी करता है।

अध्याय 8
भारतीय परंपरा के समकालीन प्रवक्ता

हिन्द स्वराज में महात्मा गाँधी ने समकालीन भारत की सनातन परंपरा को अभिव्यक्त किया है। सनातन परंपरा का विस्तृत परिचय माधवाचार्य की पुस्तक सर्वदर्शन संग्रहः या भरतसिंह उपाध्याय की पुस्तक बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन पढ़ने से हो सकता है। इस अध्याय को पढ़ते–पढ़ते भी इसकी कुछ झलक मिल जायेगी।

पारंपरिक (सनातन) जीवन दृष्टि के अनुसार इस सृष्टि में उपलब्ध हर अस्तित्ववान पदार्थ एक ही ब्रह्म का विस्तार है। पूरा का पूरा जगत् एवं संसार ब्रह्म के शरीर का विस्तार ही है। ब्रह्म की तरह यह जगत् और संसार भी शाश्वत है। सनातन है। पूरब और पश्चिम की सभ्यता उसी शाश्वत संसार की अभिव्यक्ति है। जगत् प्रकृति अथवा 'नेचर' है, संसार संस्कृति अथवा 'कल्चर' है। इस दृष्टि से ईसा, मूसा और मुहम्मद उसी ब्रह्म की अभिव्यक्ति थे जैसे राम, कृष्ण और बुद्ध अभिव्यक्ति थे। सांप्रदायिक भेद तो इन सबों में है या था परंतु तात्त्विक भेद तो नहीं है। सनातनी दृष्टि से पश्चिम को असत्य या अशिव तो नहीं कहा जा सकता है केवल अधूरा कहा जा सकता है। समकालीन पश्चिमी समाज ईसाई, आधुनिक एवं

उत्तर–आधुनिक के साथ–साथ पैगन के रूप में कई संप्रदायों में बंटा है और उसके पास सबों को समाहित करने वाली बहुसांस्कृतिक–सभ्यतामूलक दृष्टि नहीं है। साथ ही, पश्चिम खुद को पूरब के घोर विरोधी दूसरे ध्रुव के रूप में परिभाषित करता रहा है, पूरक इकाई के रूप में नहीं। इस पारंपरिक दृष्टि से देखने पर गाँधी और कुमारस्वामी अधूरे सनातनी तो कहे जा सकते हैं चूँकि वे केवल ईसाई परंपरा को भारतीय, इस्लामिक या ग्रीक परंपरा के साथ समाहित कर पाते हैं परंतु इन्हें ईसाई कहना या अभारतीय कहना तो गलत होगा। भारतीय संदर्भ में देखें तो अधिकांश ईसाई या मुसलमान भी सामान्यतः सनातनी जीवन जीते हैं भले हीं सनातनी जीवन दृष्टि नहीं रखते। जबकि भारत के अन्य संप्रदाय अब भी सनातनी जीवन के साथ सनातनी दृष्टि भी रखते हैं। कुमारस्वामी एवं गाँधी इस अर्थ में सनातनी दृष्टि वाले हैं कि उन्हें लगता है कि एक ही सत्य की अभिव्यक्ति कई परंपराओं में हुई है। परंतु इनकी सीमा यह है कि ये लोग आधुनिक यूरोप को शैतान की रचना मानकर विरोध करते हैं, ये पारंपरिक और आधुनिक दृष्टि के बीच समन्वय नहीं कर पाते। यह एक प्रकार की ईसाई दृष्टि कही जा सकती है। यह दृष्टि एक प्रकार की असहिष्णुता का उदाहरण है कि सत्य केवल ईश्वर द्वारा चुने हुए आस्तिक (ईसाई) समुदाय के पास है। 'अधर्म' की अवधारणा और 'शैतान की रचना' दोनों अलग–अलग प्रकार की अवधारणायें हैं। अधर्म व्यक्ति करता है। सभ्यता अधार्मिक हो ही नहीं सकती। संसार शैतान का

साम्राज्य हो ही नहीं सकता। रावण की लंका भी सेमेटिक अर्थों में शैतानी साम्राज्य नहीं था। राम की अयोध्या और जनक की मिथिला और रावण की लंका में संप्रदाय भेद तो है परंतु तत्त्व भेद नहीं है। युद्ध अपने आप में अधार्मिक नहीं होते। कुछ युद्ध अधार्मिक कारणों से लड़े जा सकते हैं परंतु युद्ध अपने आप में ईश्वरीय लीला का ही अंग है। युद्ध भी संवाद का, समन्वय का एक ऐतिहासिक रूप रहा है। प्रारब्ध और कर्म के सिद्धान्त से युद्धा के आध्यात्मिक या दैवीय रूप को भी समझा जा सकता है।

अतः आधुनिक पश्चिम के सुप्त दैवीय उद्देश्यों/स्वरूप को नहीं समझ पाना गाँधी और कुमारस्वामी की सीमा तो है परंतु मात्र इसी कारण उन्हें अभारतीय तो नहीं कहा जा सकता। उसी तरह, ईसाई यूरोप को या बौद्ध श्रीलंका को सहज भाव से स्वीकार नहीं कर पाना विवेकानन्द की सीमा तो हो सकती है परंतु इसी आधार पर उन्हें आधुनिक यूरोप से जोड़कर अभारतीय तो नहीं कहा जा सकता। परंपरा सम्पूर्ण ब्रह्मण्ड को सम्पूर्णता में समझने का एक पैराडाइम (दृष्टि) है। भारतीय परंपरा सनातन धर्म के पैगन संस्करण का ही एक जीवंत रूप है। गाँधी में पैगनिज्म का सुपरिचित उदाहरण देखा जा सकता है। रामकृष्ण में इसका ज्यादा सरल एवं पारंपरिक उदाहरण देखा जो सकता है। गाँधी में निवृत्तिमार्ग है, व्यक्तिगत विमुक्ति के लिए एकल साधना है। रामकृष्ण में कुल मिलाकर प्रवृत्तिमार्ग है। सामूहिक विमुक्ति का मूलमंत्र है।

विवेकानन्द का दर्शन उपरि तौर पर आधुनिक/उत्तर आधुनिक किस्म का दर्शन है जिसका आधार यह मान्यता है कि पुर्नजागरण एवं ज्ञानोदय के बाद यूरोप या पश्चिमी सभ्यता का मूलाधार मूलतः प्राचीन रोम एवं प्राचीन यूनान का पैगन धर्म है न कि मध्यकालीन यूरोप की ईसाई परंपरा। विवेकानंदजी का दर्शन मूलतः आधुनिक विज्ञान, तकनीक एवं बाजार प्रेरित परिवर्तनों को स्वीकार करने का, इसको दैवीय योजना के अनुसार उत्पन्न उत्पाद के रूप में स्वीकार करने का नैतिक निर्णय है। यह इस विश्वास पर आधारित है कि "अन्ततः जो हो रहा है वह ईश्वर की इच्छा से ही हो रहा है।" शैतान (डेविल) इतना शक्तिशाली नहीं हो सकता कि ईश्वर की इच्छा या डिजाइन या लीला को दैविय उद्देश्यों से भटका दे। एक तो सामी (सेमेटिक) अर्थों वाला शैतान भारतीय दृष्टि में होता नहीं। भारत में अगर शैतान होता भी है तो वह ईश्वर की योजना का ही अंग होता है। सहायक होता है। शिव पुराण में भूत–प्रेत–राक्षण ईश्वर के विरोधी नहीं, भक्त हैं। वे भी दैवी शक्ति के ही रक्षक हैं। भूत–प्रेत–राक्षस भी दैवीय शक्ति से ही उत्पन्न होते है। वे भी ईश्वर की रचना हैं। उनके ही भक्त हैं। उनकी लीला के ही पात्र हैं। उनकी भूमिका भी इस लीला में सहयोग करने वाली है। जबकि पश्चिमी मान्यता के अनुसार ईश्वर और शैतान दोनों का दो अलग–अलग स्वायत्त साम्राज्य होता है।

यहाँ हमें दो प्रकार के विमर्शों में अंतर करना आवश्यक होगा। एक है सत्तामूलक विमर्श एवं दूसरा है सभ्यतामूलक विमर्श। विष्णु सत्ता के प्रतीक पुरुष हैं। विष्णु पुराण राज्य केन्द्रित विमर्श है। शिव पुराण सभ्यतामूलक विमर्श है। महात्मा गाँधी द्वारा रचित हिन्द स्वराज तो सभ्यतामूलक विमर्श है लेकिन अपने अन्तिम अर्थों में स्वतंत्रता आन्दोलन के नायक के रूप में महात्मा गाँधी का विमर्श राज्यकेन्द्रित विमर्श है। यह विमर्श भारत में अंग्रेजी राज और इससे जुड़ी प्रक्रियाओं को सम्बोधित था। यह राज्य के स्वरूप को रूपांतरित करने का प्रयास था। बहुत कुछ वैसा ही जैसा विश्वामित्र ने वैदिक युग में किया था। जिससे इन्द्र का सिंहासन डोलता था। इन्द्र राज्य के प्रतीक पुरुष हैं। इन्द्र वैदिक देवता हैं वे कृत युग में देवताओं के राजा हैं। विष्णु मूलतः त्रेता + द्वापर के देवता हैं। वे राजा हैं। राज्य के प्रतीक पुरुष हैं, वे सत्ता के प्रतीक पुरुष हैं। कलियुग में वैष्णव धर्म का रूपान्तरण होता है। विष्णु एवं इनके अवतारों को प्रजातांत्रिक भक्ति का, लोक या सिविल सोसाइटी का, प्रजा का प्रतीक पुरुष बनाया जाता है। विष्णुअवतार मूलतः राज्यमूलक होते हैं। महाभारत के कृष्ण (गीता के कृष्ण) राज्यमूलक विमर्श के प्रतीक पुरुष हैं। परंतु श्रीमद्भागवत के कृष्ण लोकमूलक हैं।

महात्मा गाँधी ने गीता को अपनी प्रिय पुस्तक के रूप में अकारण वरण नहीं किया था। गीता भी मूलतः एक राज्यमूलक विमर्श ही है। जबकि बाईबिल में वर्णित 'सर्मन

ऑन द माउण्ट' लोकमूलक है। यह राज्यमूलक नहीं है। परंतु पोप द्वारा मान्यता प्राप्त आधिकारिक 'बाईबल' या 'न्यू टेस्टामेंट' राज्य मूलक विमर्श बन गया है। लूथर का प्रोटेस्टैंट धर्म भी अन्ततः राज्यमूलक था। काल्विन का प्रोटेस्टैंट धर्म अवश्य लोक–मूलक रहा है। काल्विन को इस अर्थ में आधुनिकता का मुख्य पुरोहित कर सकते हैं। विलियम जेम्स जैसे आधुनिकतावादी तो बहुत बाद में आते हैं। इसके विपरीत हीगल का दर्शन राज्यमूलक था। दार्शनिक के रूप में डेकार्ट, लॉक या कान्ट राज्यमूलक नहीं सभ्यतामूलक थे या लोकमूलक थे। उत्कृष्ट साधना केवल लोकमूलक नहीं होती, राज्यमूलक भी हो सकती है। मार्क्सवादी भी गाँधी की तरह राज्यकेन्द्रित विमर्श करते रहे हैं।

राज्य = सत्ता = सत्ता केन्द्रित।

मार्क्स के चिन्तन के केन्द्र में सत्ता है। गाँधी के चिन्तन के केन्द्र में भी सत्ता = स्वराज है। राज और राज्य में संरचनात्मक अन्तर तो होता है पर तात्विक रूप से हैं तो दोनो सत्ताकामी ही। हिन्द स्वराज के गाँधीवादी विमर्श में ब्रिटिश राज की तुलना में आम भारतीयों के स्व (आत्मा) के राज का विमर्श है। नागरिकता का विमर्श राज्य केन्द्रित भी हो सकता है और लोक केन्द्रित भी। सत्ता के केन्द्र का विकेन्द्रीकरण करने वाला विमर्श विकसित करना हिन्द स्वराज का लक्ष्य था।

महात्मा गाँधी के व्यक्तित्व में सत्तामूलक एवं सभ्यतामूलक दोनों प्रकार के विमर्शों का समन्वय देखा जा सकता है। गाँधीजी में एक लोग या सभ्यतामूलक पक्ष था उसके प्रतिनिधि विनोबा थे। गाँधीजी में एक लोक या सभ्यतामूलक पक्ष था उसके प्रतिनिधि विनोबा थे। गाँधी में एक राज्य या सत्ता पक्ष भी था उसके प्रतिनिधि नेहरू और लोहिया थे। समकालीन संदर्भ में महात्मा गाँधी एवं स्वामी विवेकानंद के अनुयायियों के बीच आधुनिक पश्चिमी सभ्यता, खगोलीकरण एवं ईसाईयत के साथ हिन्दू समाज एवं संस्कृति के पारस्परिक संबंध के बारे में बौद्धिक विमर्श के दौरान दुर्भाग्य से कटुता एवं असहजता लगातार बढ़ती जा रही है। इससे भारत के आम आदमी को काफी दुविधा झेलनी पड़ती है। उदाहरण के लिए, पश्चिमी विश्वविद्यालयों में प्रशिक्षित कुछ भारतीय मूल के गाँधीवादी विद्वान अमेरिका एवं बहुराष्ट्रीय निगमों को शैतानी शक्ति मानते हैं एवं पारंपरिक ईसाईयत को दैवीय शक्ति मानते हैं। मार्क्स एवं इजरायल को भी ये लोग शैतानी शक्ति मानते हैं। उनकी नजर में पूरी आधुनिक पश्चिमी सभ्यता शैतानी शक्ति की उपज है। वे मानते हैं कि काला धन और भ्रष्टाचार कोई महत्त्वपूर्ण समस्या नहीं है और न इसको साधारणतः दूर ही किया जा सकता है। यह तो दूरगामी रूपांतरण के बाद ही दूर किया जा सकता है, चूंकि यह सब पश्चिमी सभ्यता की नैसर्गिक उपज हैं। ये ईसाईयत को अच्छी शक्ति मानते हैं और आधुनिक पश्चिम को बुराई की शैतानी शक्ति मानते हैं वे स्वामी विवेकानन्द को एवं भारतीय

अभिजात्य वर्ग तथा आधुनिक भारतीय संस्कृति को पसन्द नहीं करते।

पश्चिमी विश्वविद्यालयों में एवं पश्चिमी समाज में ईसाई सकूह काफी लंबे समय से क्रियाशील रहे हैं। भले ही आज कल पश्चिमी समाज में संगठित ईसाई धर्म कोई मजबूत शक्ति नहीं रह गया है, परंतु वे पश्चिमी विश्वविद्यालयों की परिधि में अब भी काफी प्रभावशाली हैं। गाँधीजी पर भी मत–आरोपण (ब्रेन वाशिंग) की कई कोशिशें हुई थी, इसे स्वयं गाँधीजी ने अपनी आत्मकथा एवं अन्य जगहों पर स्वीकारा है। परंतु उपरोक्त गाँधीवादी विद्वान अपने विचारों एवं विश्वासों के ईसाई स्रोत के बारे में संभवतः बहुत सचेत नहीं हों।

18वीं और 19वीं सदी तक आते–आते विश्वास और धर्म विधि से संबंधित व्यवहार दोनों के स्तर पर, यूरोप का ईसाई धर्म, यूरोपीय लोगों की नज़र में, इतना पतित हो चुका था कि कैथोलिक लोग इसको बौद्धिक रूप से तर्कसंगत साबित करने की स्थिति में नहीं रह गए थे। इसकी तुलना में कला के स्तर पर अनुकूल अभियान चलाया जा सकता था। फलस्वरूप कला को कैथोलिक ईसाई विद्वानों ने विशिष्ट प्रतीक कहना शुरू किया और प्रोटेस्टेन्ट लोगों ने विश्वास को केन्द्रीय मूलभाव (सेन्ट्रल मोटिफ) कहना शुरू किया। यहूदी मूल के विद्वानों ने धर्म विधि (रिचुअल) को केन्द्रीय कहना शुरू किया।

हर चीज के बावजूद कला कलाकार की व्यक्तिगत रचना होती है। कलाकार समाज का एक विशिष्ट भाग होता है

और काफी हद तक समाज से कटा होता है। वह चेतन संरचना और धर्म आधारित संस्तरण को तर्कसंगत साबित करने के लिए बाध्य नहीं होता। वह सामाजिक अवधारणा, अपने युग के व्याकरण और भाषा की सीमा से अपेक्षाकृत स्वतंत्र होता है। बहुत कुछ स्वप्न की तरह। फलस्वरूप ईसाई मूल के विद्वानों को कला की दुनिया सुरक्षित स्वर्ग लगा चूंकि तब तक फ्रायड, जुंग और लकान की कला के बारे में समालोचना लोकप्रिय नहीं हुई थी। यह आकस्मिक नहीं है कि गाँधी के गुरू रस्किल तथा कुमारस्वामी के गुरू मौरिस दोनों कला इतिहास के विद्यार्थी थे। यह भी आकस्मिक नहीं है कि धीरे–धीरे कुमारस्वामी कला इतिहास को छोड़कर सैद्धान्तिकी (मेटाफिज्क्सि) पर सकेन्द्रित होने लगे थे। धीरे–धीरे गाँधी ने भी अपने को पुनः ढूंढ़ना शुरू कर दिया था। जैसे–जैसे कुमारस्वामी और गाँधी को सनातन हिन्दू धर्म की गहराई समझने का अवसर मिला वे लोग धीरे–धीरे यूरोपीय कला आंदोलन के प्रभाव से दूर होते गये। यूरोप के प्रोटेस्टेन्ट लोगों ने तो सोलहवीं शताब्दी से ही विश्वास के स्तर पर कैथोलिकों से लड़ाई लड़ कर अपनी नई पहचान खोजना शुरू कर दिया था। उन्नीसवीं शताब्दी आते–आते यहूदी पृष्ठभूमि के विद्वान लोग अपने अध्ययनों में कैथोलिक ईसाई धर्म विधि की खिल्ली उड़ाने लगे। यहूदी मूल के दुर्खीम ने जनजातिय और यहूदी धर्म विधि को अप्रत्यक्ष बौद्धिक समर्थन देने के लिए ‘दि एलीमेन्टरी फॉर्म ऑफ रिलिजियस लाइफ’ लिखा। यह अन्ततः ईसाई धर्म के खिलाफ जाता है। आत्महत्या विषय पर लिखी

उनकी दूसरी किताब भी अंततः ईसाई धर्म के खिलाफ जाता है। आत्महत्या विषय पर लिखी उनकी दूसरी किताब भी अंततः ईसाई धर्म के विश्वास के खिलाफ जाता है। यहूदी पृष्ठभूमि के एक दूसरे विद्वान कार्ल मार्क्स, धार्मिक विश्वास को झूठी चेतना कह कर ईसाई पुनरुत्थान (प्रोटेस्टेन्ट) की हंसी उड़ाते हैं। इसी क्रम में, फ्रायड जैसे मनोविश्लेषणवादी रस्किन एवं मॉरिस जैसे ईसाई कला समीक्षकों के प्रभाव को अपने अध्ययनों के द्वारा खोखला कर देते हैं चार्ल्स डार्विन अपने उद्विकास वाले सिद्धांत के जरिये ईसाईयों के बीच लोकप्रिय जेनेसिस की बाईबिल वाली कहानी को काफी हद तक अप्रासंगिक बना देते हैं।

पश्चिमी आधुनिकता और इसकी उत्कट अभिव्यक्तियों (अमेरिकी सभ्यता एवं बहुराष्ट्रीय निगम) के बारे में यूरोप के कैथोलिक ईसाईयों की दृष्टि आज भी ज्यादा नहीं बदली है। पश्चिमी आधुनिकता को आज भी ये लोग शैतानी शक्तियों की रचना मानते हैं इस दृष्टि के लोग आज भी अमेरिका को एक सभ्यता नहीं मानकर एक 'सेटलमेंट' कहते हैं। 'सेटलमेंट' (रिहायसी स्थान) की पारंपरिक (पैगन) सभ्यता को सभ्यता नहीं मानकर बर्बरता मानते हैं। दूसरा भाव यह है कि वे कोलंबस द्वारा अमेरिका खोजे जाने के बाद पोप की प्रेरणा, सहमति एवं आज्ञा से स्पेन और पुर्तगाल के नेतृत्व में चलाये गये बर्बर साम्राज्यवादी अभियान को 'सभ्यता' फैलाने वाला अभियान मानते हैं और अमेरिकी भूमि को इस अभियान को चलाने वाले

कैथोलिक ईसाईयों का रिहायसी स्थान मानते हैं। तीसरा भाव यह है कि यूरोप के कैथोलिक ईसाईयों के 'महान उद्देश्य' से किये गये भीषण एवं रक्तरंजित अभियानों के बावजूद अमेरिका को आज भी मध्यकालीन यूरोपीय मानदंडों पर सभ्यता नहीं बनाया जा सका है। यूरोप के विश्वविद्यालयों में अमेरिका को इसी तर्क के आधार पर सभ्यता नहीं मानने की प्रवृत्ति हावी रही है। देखा–देखी अन्य लोग भी इस कुतर्क को बिना सोचे–समझे मानने लगे हैं। भारत की शैक्षणिक संस्थाओं में भी मुख्य रूप से बाईबल का कैथोलिक दृष्टि से प्रभावित अनुवाद ही पढ़ा–पढ़ाया जाता है। विभिन्न प्रकार के प्रोटेस्टेन्ट संप्रदायों एवं इस्लाम और यहूदी दृष्टि वाला अनुवाद नहीं पढ़ा–पढ़ाया जाता। इस्लाम तथा यहूदी मत में बुराई की या नरकदूत (शैतान) की अवधारणा कैथोलिक अवधारणा से बहुत मामलों में समान होने पर भी कई विशिष्ट अर्थों में अलग रही है। इनके बीच सांप्रदायिक गतिरोध एवं संघर्ष के कई कारणों में एक प्रमुख कारण यह अन्तर और इनका फलितार्थ भी रहा है।

स्वामी विवेकानंद से लेकर रामस्वरूप तक अधिकांश समकालीन हिन्दू चिंतक पुनर्जागरण (रेनेंसाँ) एवं ज्ञानोदय (एनलाइटेन्मेंट) के बाद की आधुनिक यूरोप की सभ्यता से अपनापन महसूस करते हैं। इन लोगों को लगता है कि आधुनिक यूरोपीय सभ्यता का आधार मध्यकालीन यूरोप की ईसाई परंपराएं नहीं हैं, बल्कि प्राचीन यूनान एवं प्राचीन रोम की पैगन परंपराएं हैं। भारत की सनातन परंपराओं एवं यूनान,

रोम, मिस्र, चीन, बेबिलोन, पर्शिया (फारस) आदि की पैगन परंपराओं में समानता एवं सहधर्मिता का तथ्य अब सामान्य रूप से पूरब एवं पश्चिम दोनों जगह के विद्वान स्वीकारने लगे हैं। इन विद्वानों की दृष्टि में पुनर्जागरण एवं ज्ञानोदय के बाद आधुनिक यूरोप की ईसाई एवं गैर–ईसाई दोनों परंपराओं में लगातार रूपांतरण होता रहा है। इस रूपांतरण की अभिव्यक्ति धर्म सुधार आंदोलनों, औद्योगिक क्रांतियों एवं राजनैतिक क्रांतियों के साथ–साथ सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, नैतिक, वैज्ञानिक एवं तकनीकी स्तरों पर होता रहा है। परंतु इसके संपूर्ण फलितार्थों को उत्तर–आधुनिक (1968 के बाद) युग से पहले पश्चिम के विद्वान स्वीकारने से बचते रहे हैं।

इसके विपरीत, स्वामी विवेकानंद के समय से हिन्दू चिंतकों ने आधुनिक सभ्यता के पैगन आधार एवं इससे उपजी बहुआयामी, विविध, बहुकेंद्रित एवं विकेंद्रित प्रवृत्तियों एवं जटिलताओं को काफी हद तक समझ लिया था। फलस्वरूप आधुनिक यूरोप के विज्ञान, तकनीक तथा आर्थिक एवं राजनैतिक संस्थाओं को वे सनातन भारतीय परंपराओं, दर्शनों, आस्थाओं एवं संस्कृतियों के विकास के लिए अनुकूल मानते रहे हैं। विवेकानंवादी आधुनिक संस्कृति की रचना को शैतानों का कार्य नहीं मानते। कुछ विवेकानंदवादी कहते हैं कि "टिकती वही चीज है जिसके पीछे साधना होती है। उदाहरण के लिए रामकृष्ण मिशन को देखिये। अरबिन्दो आश्रम को देखिये। इस्कॉन को देखिये। योगदा सत्संग को देखिये। दूसरी

ओर वर्धा और साबरमती के आश्रमों को देखिये। गाँधी और विनोबा के मरते ही उनकी संस्थाओं का क्या हस्र हुआ! गाँधीवादी आश्रमों की तुलना में सनातन हिन्दू साधना से जुड़ी संस्थाएं लगातार बढ़ रही है। नई पीढ़ी को भी आकर्षित कर रही हैं।'' वे यह भी कहते हैं कि ''यूरोपीय लोगों ने संस्कृत एवं भारतीय संस्कृति के संरक्षण के लिए जो किया है उसमें केवल निहित स्वार्थ भर नहीं था, श्रद्धा का भाव भी था वर्ना इतना स्तरीय काम इतने वर्षों तक कायम नहीं रह पाता। वे भी साधक लोग थे और हैं।''

भारतीय परंपरा के सनातन मूल्यों की जो बात विवेकानंदवादी करते हैं वह तो प्रासंगिक है। भारतीय परंपरा की जो सनातन दृष्टि है वह आज भी प्रासंगिक है। परंतु गाँधीजी और उनके अनुयायियों की दृष्टि भी उतना ही भारतीय, उतना ही सनातनी और प्रासंगिक है। भारतीय परंपरा के स्वरूप एवं सनातनी ''मूल्य और दृष्टि'' की पहचान को लेकर ही तो सारा झगड़ा है। आज ''मूल्य और दृष्टि'' का प्रश्न और जटिल हो गया है। आज नयी सामग्री ढूँढना उतना महत्त्वपूर्ण शोधकार्य नहीं है। जानी पहचानी स्थितियों तथ्यों एवं उपलब्ध स्रोतों का भारतीय मानदंडों पर आधारित स्वतंत्र, विवेकजन्य समीक्षा एवं संशोधन करना संभवतः आज ज्यादा आवश्यक है। उदाहरण के लिए गाँधी, नेहरू के महत्त्व को स्वीकार करते हुए भी तिलक, टैगोर एवं रामचन्द्र शुक्ल जैसों की पृष्ठभूमि, कार्य एवं विचार सरनी की समीक्षा काफी महत्त्व

का संशोधन कार्य हो सकता है। तभी हम लोग समकालीन भारतीय समाज के भीतर पारंपरिक स्वदेशी एवं आधुनिक वैश्वीकरण के समर्थकों के बीच बहुआयामी स्पर्धा एवं संघर्ष को सम्पूर्णता में समझ सकते हैं। पारंपरिक स्वदेशी के सबसे बड़े प्रवक्ता महात्मा गाँधी माने जाते हैं तो आधुनिक वैश्वीकरण के सबसे समर्थ सिद्धांतकार स्वामी विवेकानंद माने जाते हैं। परंतु उनके विचार में महत्त्वपूर्ण अंतर होते हुए भी काफी कुछ साझा है। दरअसल दोनों के व्यक्तित्व पर समकालीन भारत की परिस्थितियों का प्रभाव था। वे अपने समकालीनों के साथ संवाद बनाने में भी लगे हुए थे। उस समय अपने युग के सनातन सत्य एवं भारतीय परंपरा को अभिव्यक्त करने का सांस्कृतिक अभियान चल रहा था। भारतीय दृष्टि से आधुनिकता और परंपरा पर विचार करते हुए गाँधीजी और विवेकानंदजी के विचारों की पूरकता स्पष्ट हो सकती है।

आधुनिकता की सबसे बड़ी विशेषता इसका खुलापन, इसकी तरलता है। आधुनिकता की खास बात इसका संस्थागत रूप से एक स्वतंत्र बाजार की तरह खुला होना और सार्वजनिक क्षेत्र में भी, आत्म सजग रूप से, सर्वसमावेशी होना है। तुलनात्मक रूप से, परंपरायें इतनी खुली नहीं होती। एक पारंपरिक व्यक्ति अपने व्यक्तिगत जीवन में खुला हो सकता है, परंतु संस्थाओं के खुलेपन की अपनी सीमा होती है। खासकर समालोचनप को पचाने के मामले में और बाहरी प्रभाव से निपटने के मामले में यह सीमा बहुत स्पष्ट दिखती है। यह

सीमांकन केवल जाति के रूप में ही प्रभावी नहीं होता बल्कि संप्रदाय और घराना के रूप में भी प्रभावी होता है। आयुर्वेद जैसे विज्ञान के क्षेत्र में भी यह प्रभावी होता है। सूचनाओं का स्वतंत्र आदान–प्रदान परंपरा में सामान्यतया नहीं होता परंतु हो सकता है, इससे सैद्धान्तिक रूप से इनकार नहीं किया जा सकता। दूसरी ओर, आधुनिकता में भी सैद्धान्तिक खुलापन चाहे जितना हो, व्यावहारिक सुलभता नहीं होती है। सब कुछ मुफ्त में उपलब्ध नहीं होता। पेटेंट नियम होते हैं। कॉपीराइट होते हैं। भाषा की सीमा होती है। एक खास भाषा में एक खास तरह से ही आधुनिकता अपनी सूचनाऐं बाँटा करती है।

परंपरा में भी यही होता है। परंपरा में भी पात्रता का सवाल न्यूनतम जरूरी योग्यता से ही संबंधित होता है। फिर भी परंपरा में समुदायों को जैसी स्वयत्तता मिलती है, उसकी रक्षा के लिए समुदाय के सदस्यों को वैसी स्वतंत्रता नहीं दी जाती जैसी आधुनिकता में व्यक्तियों को दी जाती है। दूसरी ओर, आधुनिकता में केवल राज्य को स्वायत्तता प्राप्त होती है, समुदायों को नहीं। उत्तर आधुनिकता में व्यक्ति एवं बाजार की स्वायत्तता सर्वोपरि होती है जबकि तुलनात्मक रूप से राज्य की स्वायत्तता खोखली हो जाती है।

भारतीय परंपरा में व्यक्ति को सांसारित दृष्टि से उतनी स्वायत्तता प्राप्त नहीं है जितना आधुनिक व्यवस्थाओं में होती है। परंतु आध्यात्मिक दृष्टि से व्यक्तिगत मुक्ति की बात बहुत सहजता से की जाती है। उदाहरण के लिए, रमण महर्षि आदि

का मॉडेल व्यक्तिगत मुक्ति वाला आध्यात्मिक मॉडेल है। यह सामाजिक मुक्ति का व्यवस्थित मॉडेल नहीं है। हिन्दुओं ने अब तक आत्म सजग रूप से व्यावहारिक स्तर पर क्रियाशील व्यवस्थागत विकल्प का मॉडेल एक विस्तृत ब्लू प्रिंट के रूप में विकसित ही नहीं किया। अधिकांश आधुनिक हिन्दू चिन्तकों में इस मोर्चें पर एक आत्मचेतस रणनीतिक ढुलमुलपन (एंबीग्युटी) दिखाई देता है। महात्मा गाँधी का हिन्द स्वराज शायद एकमात्र अपवाद है। अधिकांश आधुनिक हिन्दुओं में जो आत्मचेतस ढुलमुलपन दिखलायी देता है वह काफी हद तक लंबी गुलामी के दौरान अपनी सांस्कृतिक पहचान कायम रखने एवं विपरीत परिस्थिति में अने स्व की रक्षा करने की रणनीतिक व्यावहारिकता (प्रैगमेटिज्म) के तहत धीरे–धीरे विकसित होता गया। इस प्रवृत्ति को व्यक्तिगत रूप से बहुत लोग स्वीकारते हैं परंतु इस पर व्यवस्थित विचार करने का सार्वजनिक प्रथा प्रचलित नहीं है। इस प्रवृत्ति को समझे बिना हिन्द स्वराज का महत्त्व समझा ही नहीं जा सकता।

राजा राममोहन राय को आधुनिक भारत का निर्माता माना जाता है परंतु उनका जोर भारतीय समाज को यूरोपीय मानदंडों पर आधुनिक बनाने पर ज्यादा था। फलस्वरूप, भारतीय परंपरा के प्रतिनिधि वे नहीं माने जाते। दूसरी ओर, स्वामी दयानंद सरस्वती और उनके अनुयायियों ने समकालीन भारतीय परंपरा के आधिकारिक प्रवक्ता होने का दावा किया था। परंतु स्वामी दयानन्द के अनुयायियों ने भारतीय परंपरा

का कुछ इस तरह अनुवाद एवं भाष्य किया है कि आधुनिकता की विशेषताएं व्यावहारिक स्तर पर पारंपरिक ग्रंथों पर आरोपित हो गयी हैं। उदाहरण के लिए, एक बड़े आर्यसमाजी लेखक ने ऋगवेद का हिन्दी में अनुवाद किया है। उन्हें लगता है कि पश्चिम की जो अच्छी–अच्छी चीजें हैं वह सब तो हमारी परंपरा में थी ही। यह प्रवृत्ति आर्य समाज के बाहर वाले आधुनिक हिन्दू चिन्तकों में भी स्थायी भाव ग्रहण करती जा रही है। इसकी प्रेरणा विलियम जोंस जैसे यूरोपीय विद्वानों के प्रभाव से फैला है।

करीब चौथी शताब्दी से यूरोपीय विद्वानों में ज्ञान का प्रामाणिक स्रोत किताब (टेक्स्ट) रहा है। आधुनिक युग में भी रेने डेकार्ट एवं इमैनुएल कैंट के प्रभाव में ज्यादातर यूरोपीय विद्वान यही मानते हैं कि किसी चीज के बारे में प्रामाणिक ज्ञान किताबी सिद्धांत एवं बौद्धिक अवधारणाओं के आधार पर ही प्राप्त हो सकता है। विलियम जोंस के प्रभाव में जब भारत को समझने के लिए आधुनिक प्रयास इंडोलॉजी (भारतविद्या) के तहत विकसित हुआ तो यूरोपीय मानदंड पर भारत का प्रामाणिक ग्रंथ या किताब (टेक्स्ट) खोजा जाने लगा। भारतीय ग्रंथों का अनुवाद, संशोधन, संपादन एवं मूल्यांकन का साम्राज्यवादी उपक्रम चलाया गया। इस उपक्रम के सिद्धांत, मॉडेल एवं मानदंड यूरोपीय परंपरा के आधार पर तय किया गया। भारतीय विद्वानों का काम बौद्धिक सहायकों जैसा था। वे लोग यूरोपीय विद्वानों के स्वामीभक्त अनुचर की तरह ‘तथ्य

संकलन', 'शाब्दिक अनुवाद' एवं यूरोपीय मानदंडों पर भारतीय शास्त्रों में ''प्रक्षेपित अंश'' (अप्रमाणिक घुसपैठ) खोजते रहे और मूल्यांकन करने का काम यूरोपीय विद्वान करते रहे। बाद में इस तरह के ''आधिकारिक मूल्यांकन'' के प्रचार, प्रसार एवं अनुकरण करने के लिए भारतीय विद्वानों को प्रायोजित अनुबंध दिया जाता रहा। अब तो इसी प्रकार के शोध को मौलिक एवं श्रेष्ठ माना जाता है। इसी प्रभाव के कारण आधुनिक हिन्दू चिंतकों में साधारण जनता और उसके जीने के ढ़ंग का ख्याल नहीं रहा, अंग्रेजों द्वारा चुने हुए 'टेक्स्ट' का ख्याला रहा।

एक स्वतंत्र ग्रंथ के रूप में भगवद्गीता भी अंग्रेजों के आने से पहले नहीं पढ़ी जाती थी। इसको इतना अधिक प्रतिष्ठित यूरोपीय विद्वानों ने ही किया है। पहले इसे या तो महाभारत के रूप में पढ़ा – सुना जाता था या दार्शनिक रूप से ब्रह्मसूत्र और उपनिषदों के साथ प्रस्थान त्रयी के रूप में पढ़ा जाता था। आम हिन्दुओं के बीच भगवद्गीता साधारण लोगों द्वारा पढ़ने की चीज नहीं मानी जाती। साधारण लोग रामायण, महाभारत, पुराण एवं भागवत इत्यादि पढ़ते हैं। समाज में अभी भी कुछ ही लोग पारंपरिक शास्त्र, शिल्प या भारतीय गणित पढ़तें हैं, ज्यादातर लोग वाचिक परंपरा की दुनिया में ही रहते हैं। उनकी दुनिया गणित एवं व्याकरण से न तो बनती है और न चलती है। उनकी दुनिया में स्मृति, पुराण, लोककथा, महाकाव्य, मुहावरा, कहावत, लोकगीत एवं लोकसंगीत का प्रभाव गणित एवं व्याकरण से ज्यादा होता है।

परंतु आधुनिक विद्वान भारत को आम लोगों की नजर से देखना समझना नहीं चाहते। वे लोग अपनी कृत्रिम दुनिया में रहते हैं। उनको इसे बहुत फर्क नहीं पड़ता कि भारत के आम नर–नारियों का दूसरे मनुष्यों से, सृष्टि से या दूसरे जीवों से क्या रिश्ता है। उनके लिए पश्चिमी मानदंडों पर खरा उतरना अधिक आवश्यक है।

वास्तव में आम आदमी के जीवन में जाने अनजाने कितना पश्चिमीकरण हुआ है, हुआ भी है या नहीं ऐसे सवालों पर सार्वजनिक जीवन में चर्चा सामान्यतः नहीं होती। जो लोग सार्वजनिक जीवन में हैं, उनमें अधिकांश लोगों को आम जनों की वास्तविक स्थिति के बारे में ज्यादा जानकारी नहीं है। जिन्हें जानकारी है वे सार्वजनिक जीवन के विमर्श में भाग नहीं लेते और आम लोगों के पक्ष का प्रतिनिधित्व करने नहीं आते। आधुनिक भारत के पढ़े–लिखे लोगों को लगता है कि हमारे देश के साधारण लोग तो आलसी हैं। अंग्रेजो ने जो–जो कहा और दोहराया कि "तुम्हारे ग्रन्थों में ऐसा लिखा है, "यह पढ़े–लिखे भारतीय लोगों के मन में बस गया है। जैसे अंग्रेजों ने जानबूझकर यह मिथक गढ़ा कि हजारों बरस से हमारे यहाँ दरिद्रता है; कि हमारे यहाँ बरसों से छूआछूत कायत है। ऐसी मान्यताओं का कोई ऐतिहासिक आधार नहीं है। ऐसे मिथक अंग्रेजों के द्वारा अपने राज को वैधता देने के लिए शोध के नाम पर गढ़े गये। परंतु मानसिक रूप पर गढ़े गये। परंतु मानसिक रूप से गुलाम भारतीयों ने इसको बिना परीक्षा किए

स्वीकार लिया। कोई नहीं पूछता कि बतलाओं तो सही कि इन तथाकथित ऐतिहासिक तथ्यों का आधार कहाँ है? पूछने पर कुछ कुतर्की कहते है कि मनुस्मृति में या कहीं और है। असल में मनुस्मृति में क्या है यह नहीं कहते, यह भी नहीं कहते कि मनुस्मृति कब लिखी गई थी? मनुस्मृति के अलावे और कितनी स्मृतियाँ हैं? इन स्मृतियों का आपस में क्या संबंध है? इन स्मृतियों का अपने युग के समाज से कैसा संबंध था? क्या भारतीय समाज में व्यक्ति एवं समुदाय का जीवन स्मृतियों से उसी तरह नियंत्रित होता था जिस तरह सेमेटिक जाति के धार्मिक समुदायों में पवित्र ग्रंथों के आधार पर होता है? ऐसे प्रश्नों को दरकिनार करना आजकल भारत में बौद्धिक फैशन बन गया है। लेकिन इस बौद्धिक फैशन के निर्माण में साम्राज्यवादियों ने बहुत मेहनत की थी।

राबर्ट क्लाइव के जमाने से भारतीयों के स्वभाव के बारे में अंग्रेजों ने बहुत जानकारी एकत्र किया। धीरे–धीरे वे समझ गये कि भारतीयों को कुछ भी तय करने में बहुत देर लगती है। भारतीय लोग स्वभाव से योजनाबद्ध नहीं होते। विरोधियों द्वारा कुछ भी अचानक कर देने पर भारतीय लोग सामान्यतः लड़खड़ा जाते हैं। हिन्दुस्तानी लोग हवा का रूख देखकर अपनी रणनीति बदल लेते हैं। अगर परिस्थिति बदली तो भारत के पढ़े–लिखे लोग बड़ी आसानी से बदल जाते हैं। मध्यकाल में यहां का पढ़ा–लिखा समाज बड़ी आसानी से अरबी फारसी में सूफियों की भाषा एवं इस्लाम की प्रगतिशीलता के गीत गाने

लगा था। फलस्वरूप अंग्रेजी राज में भी ब्रिटिश राज की बरकत, ईसाई धर्म की प्रगतिशीलता, पश्चिमी ज्ञान–विज्ञान एवं पश्चिमी विद्वानों द्वारा भारतीय समाज के बारे में तैयार उपनिवेशवादी विमर्श की प्रासंगिकता के गीत गाने वाले भारतीयों की कमी नहीं रही। भारतीय समाज एवं संस्कृति की अंग्रेजों की देखा–देखी कठोर आलोचना करना अधिकांश पढ़े–लिखे भारतीयों के बीच लोकप्रिय शगल बन गया। फलस्वरूप जब महात्मा गाँधी ने हिन्द–स्वराज लिखा तो भारत के पढ़े–लिखे लोगों में से अधिकांश लोगों को यह पुस्तक और अंग्रेजी राज तथा आधुनिक सभ्यता की महात्मा गाँधी द्वारा की गई आलोचना अच्छी नहीं लगी।

ठीक इसी प्रकार, जब अपने ऐतिहासिक शोध के आधार पर धर्मपाल ने अंग्रेजों के आने से पहले भारत की आर्थिक खुशहाली, तकनीकी श्रेष्ठता एवं शैक्षणित प्रगति के बारे में तुलनात्मक आंकड़ा प्रस्तुत किया तो सहसा पढ़े–लिखे लोगों को विश्वास नहीं हुआ। जब यह बतलाया गया कि यह सब एडम्स रिपोर्ट में भी वर्णित है तक भी लोगों ने इस पर बहुत ध्यान नहीं दिया। चूंकि हम 'टेक्स्ट' के चक्कर में पड़े गये। एडम्स रिपोर्ट, महात्मा गाँधी या धर्मपाल अपने क्षेत्रीय सर्वेक्षण, सामाजिक अनुभूति या संग्रहालय के आंकड़ों के आधार पर जो कहते हैं उसको पढ़े–लिखे लोग वह महत्त्व नहीं देना चाहते जो पश्चिमी विद्वानों द्वारा स्थापित मानदंडों पर भारत को समझने के लिए औपनिवेशिक विद्वानों द्वारा संपादित एवं

संशोधित मनुस्मृति या गीता के शंकर भाष्य या ऋगवेद के पुरुष सूक्त जैसे 'टेक्स्टस' (आकर ग्रंथों) को देते हैं। फलस्वरूप, व्यावहारिक स्तर पर सदियों से प्रचालित परंपराओं एवं रीति–रिवाजों को आधुनिक विद्वान प्रमाण नहीं मानते। उदाहरण के लिए, भारत में विवाह एवं तलाक के बारे में इंडोलॉजी से प्रभावित अध्ययनों में तलाक की चर्चा कबिलाई या इस्लामी संस्थाके रूप में की जाती है। जबकि हिन्दू समाज की विभिन्न जातियों में बड़ी संख्या में तलाक आदि हजारों वर्ष से प्रचलन में है। जो लोग उन समूहों में रहते हैं, उन्हें यह सब मालूम है। लेकिन यह किसी 'टेक्स्ट बुक' में नहीं है। अगर इसे 'टेक्स्ट बुक' के सहारे हम समझने की कोशिश करें तो मुश्किल होगा। अपने व्यावहारिक रूप में भारतीय समाज कैसे चलता है, इससे हमारे ख्याति प्राप्त विद्वानों का अब तक ठीक से परिचय नहीं हुआ है।

उदाहरण के लिए, अधिकांश आधुनिक विद्वानों ने हिन्दू महापुरूषों के आदर्श एवं व्यवहार में असंगति की ओर इशारा किया है। महात्मा गाँधी ने तो साफ–साफ कहा है अलग–अलग समय में एक ही विषय पर उनके विचार बदलते रहे हैं, चूँकि उनका लगातार उद्विकास होता रहा है, उनकी अनुभूतियाँ विस्तृत एवं गहरी होती रहीं हैं। फलस्वरूप वे अपील करते हैं कि जब भी किसी पाठक को एक ही विषय पर उनके दो विचार देखने को मिलें तो उनके बाद वाले विचार को ज्यादा तरजीह दी जाये। महात्मा गाँधी के उपरोक्त

मत की सांस्कृतिक गहराई समझने की बहुत कम कोशिश हुई है। महात्मा गाँधी ने सांकेतिक रूप से इसमें सनातन हिन्दू धर्म की एक प्रमुख प्रवृत्ति से खुद को जोड़ा है। जो लोग सनातन धर्म के गहरे जानकार हैं उनके लिए इसका महत्त्व स्वयं सिद्ध है। परंतु अधिकांश आधुनिक विद्वानों को गाँधीजी का यह आग्रह अटपटा लगता है। गाँधीजी को ठीक से समझने के लिए सनातन धर्म की इस प्रवृत्ति को समझना आवश्यक है।

राम और कृष्ण के जमाने से हिन्दू लोग सिद्धांत, नीति या मतवाद के नाम पर बेवजह अड़ियल–अव्यावहारिक रूख अपनाने से बचते रहे हैं। उदाहरण के लिए भगवान राम ने खुद बालि को मारने, समुद्र को पार करने एवं मेघनाद की लक्ष्मण द्वारा हत्या करवाने जैसे प्रकरणों में एक प्रकार की सांसारिक युक्ति का सहारा लिया था। उसी तरह भगवान कृष्ण ने जरासंध द्वारा मथुरा पर आक्रमण करने के बाद उससे लोहा लेने की तुलना में रणछोडजी कहलाना ज्यादा उचित समझा एवं भीष्म पितामह, गुरू द्रोणाचार्य, जयद्रथ, कर्ण, जरासंध एवं दुर्योधन की पाण्डवों द्वारा हत्या करवाने में शुष्क नीति या सिद्धांत पर अड़ने की तुलना में व्यावहारिक लचीलापन एवं युक्ति अपनायी।

महात्मा गाँधी भी इसके अपवाद नहीं थे। उन्होंने कई बार (साउथ अफ्रीका में भी और भारत में भी) सांसारिक युक्ति को अपने नीति–सिद्धांतों के ऊपर वरीयता दी। साथ ही अपनी सनातनी आस्थाओं एवं सिद्धांतो को बौद्धिक रूप से आकर्षक

एवं युगानुकूल ठहराने के लिए एवं आधुनिक पश्चिम के मानदंडों पर वैधता प्राप्त करने के लिए उन्होंने रस्किन, थोरो, टाल्सटाय एवं कारपेंटर जैसे विद्वानों को अपना गुरू तथा प्रेरणास्रोत बताया। लेकिन पश्चिम के इन परंपरावादी ईसाई तत्त्वचिन्तकों जैसी सुसंगत वैचारिक प्रतिबद्धता एवं मतवाद गाँधीजी में खोजने से भी नहीं मिलता। वे अपने व्यवहारों को सिद्धांत या मृत के आधाार पर नियंत्रित नहीं करते थे। उनके व्यवहारों को समझने का सूत्र उनकी तात्कालिक प्रेरणा/मनोवेग (मोटिव) और लक्ष्य की पूर्ति के लिए सबसे उपयुक्त युक्ति के बारे में उनकी तात्कालिक समझ एवं उनकी सनातनी आस्थाओं में खोजा जा सकता है। परंतु उन्हें अवसरवादी या समझौता परस्त नहीं कहा जा सकता। अवसरवादी या समझौता परस्त लोग कहीं ने कहीं अपने प्रतिद्वंदी से या विपरीत परिस्थितियों से डर कर एक प्रकार के दबाव में समझौता या गठबंधन करते हैं। दूसरी ओर, सनातनी व्यावहारिकतावादी अभय (निर्भय) अवस्था में स्वेच्छा से अपने स्वविवेक के आधार पर बदलती हुई परिस्थितियों का सतत मूल्यांकन करते रहते हैं। इसी बदलते हुए स्वैछिक मूल्यांकन के आधार पर वे स्वविवेक से सांसारिक युक्ति का उपयोग करते हैं। यह सनातन संस्कृति की पारिभाषिक विशेषता है। इसमें नियमित के आगे समर्पण और कर्म के सिद्धांत को मानने का भाव भी अंतर्निहित है।

परंतु **1814** के आस–पास राजा राममहोन राय के नेतृत्व में एक प्रकार की अवसरवादी या समझौतापरस्त व्यावहारिकता की वकालत भी भारत में की जाने लगी। अंग्रेजों के मिथक, मानदंड एवं प्रारूप के आधार पर भारतीय समाज एवं संस्कृति के समझने, सुधारने एवं विकसित करने का ''महान कर्म'' पढ़े–लिखे भारतीयों का सामाजिक पुरुषार्थ बनने लगा तथा एक नये प्रकार का वैचारिक एवं तात्त्विक ढुलमुलपन पढ़े–लिखे भारतीयों में लोकप्रिय होने लगा। इस नयी प्रवृत्ति का विकास आधुनिक यूरोप के ज्ञानोदय (एनलाइटेन्मेंट) एवं ब्रिटिश साम्राज्य की भारतीय नीतियों से प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित होने के बावजूद तत्कालीन भारत के वैचारिक संघर्षों से भी कहीं न कहीं जुड़ा हुआ था।

मध्यकालीन भारत के सांस्कृतिक इतिहास में हिन्दू समाज के सामने तुलसीदास ने पारंपरिक दृष्टिकोण का एक पक्ष प्रस्तुत किया। उनसे पहले कबीरदास एक दूसरा पक्ष प्रस्तुत कर चुके थे। तुलसीदास के बाद समर्थ रामदास ने एक तीसरा पक्ष प्रस्तुत किया तीनों पक्षों को विस्तार से समझने के लिए कई स्रोतों से तथ्य संग्रह करना पड़ेगा और भारतीय विश्वविद्यालयों में आजकल प्रचलित मानदंडों का अतिक्रमण करना पड़ेगा। संक्षेप में, कबीरदास निर्गुण भक्ति एवं निवृत्ति मार्ग के प्रवक्ता थे। तुलसीदास सगुण भक्ति एवं प्रवृत्तिमार्ग के प्रवक्ता थे। समर्थ रामदास ने दोनों प्रकार की भक्ति एवं दोनों प्रकार के मार्ग का समन्वय करने का प्रयास किया था।

तुलसीदास की परंपरा के सबसे प्रमुख व्याख्याकार आचार्य रामचन्द्र शुक्ल माने जाते हैं। कबीर की परंपरा से महात्मा गाँधी और बाबा साहब अम्बेडकर दोनों ने प्रेरणा ग्रहण किया। समर्थ रामदास की परंपरा शिवाजी महाराज से शुरू होकर राणाडे, सावरकर, मुँजे और मालवीय तक सीमित नहीं थी बल्कि यह कहीं न कहीं बंगाल नवजागरण के अधिकांश हिन्दू चिंतकों को भी प्रेरित करती रही थी। उदाहरण के लिए कांग्रेस के सुरेन्द्रनाथ बनर्जी जैसे कुछ मशहूर नरमपंथी नेता अंग्रेजी राज के बरकत के गीत गाते–गाते स्वदेशी आंदोलन के दौरान मैनचेस्टर के कपड़े और लिवरपूल के नमक का बहिष्कार करने का आग्रह करने लगे। उन्होंने कुछ अधिक संकोच के साथ ही सही, राष्ट्रीय शिक्षा के आंदोलन में भी भाग लिया। आम हिन्दुओं को आकृष्ट करने के उद्देश्य से विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार आंदोलन को धार्मिक रंग देने के प्रयत्नों को भी नरमपंथी नेताओं का समर्थन मिला। बाद में मगरा के मंदिर के प्रांगण में भाषण देते हुए सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने तो यहाँ तक दावा किया कि स्वदेशी धार्मिक प्रतिज्ञा की पूरी कल्पना उन्हीं की देन थी। कुछ बड़े से बड़े नरमपंथी नेताओं ने युवा आतंकवादियों के प्रथम दल को चोरी–छिपे आर्थिक सहायता और अपना आशीर्वाद भी दिया था।

समकालीन हिन्दुओं में पाया जाने वाला रणनीतिक व्यावहारिकता का पहला सैद्धान्तिक आधार संभवतः समर्थ रामदास ने विकसित किया था। समर्थ रामदास ने एक ओर तो

दासबोध नामक अपने ग्रंथ में बार–बार मूर्तिपूजा का निषेध किया है, वह भी काफी कठोर शब्दों में; दूसरी ओर भक्ति मार्ग के तहत मूर्तिपूजा से ईश्वर साक्षात्कार करके द्वैत से अद्वैतानुभव की मुक्ति भी बतलाई। एक ओर वे ब्रह्म को सत्य एवं जागत् को मिथ्या कहते हैं तो दूसरी ओर वे यह कहते हैं कि चरम सत्य विश्व में भी व्याप्त है। वे राम से रहित विश्व को असत्य तथा राम से युक्त विश्व को सत्य मानते हैं। वे साधक को यह छूट देते हैं कि वह अपनी रूचि तथा प्रवृत्ति के अनुसार साधना मार्ग का चयन करे। वे बहुत दृढ़ता से कहते हैं कि परमात्मा को प्राप्त करने का मार्ग साधक के हाथ में ही है। यदि साधक की साधना में गहराई है तो भव सागर को लांधने के लिए माया नौका बन जाती है। मनुष्य मात्र का उद्धार माया की सहायता लिये बिना हो ही नहीं सकता। ज्ञान मुक्ति का प्रमुख साधन है किंतु स्वयं ज्ञान विद्यामाया का ही एक उत्कट आविष्कार है। पाँच भौतिक तत्त्वों का जो विकास विश्व में दिखाई देता है, वह वस्तुतः माया का ही विकास है। अध्यात्म का अर्थ ही है माया तथा ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान। बिना साधना के सामान्यतः ब्रह्म ज्ञान प्राप्त नहीं हो पाता और सद्गुरु की कृपा से अगर वह प्राप्त हो भी गया तो भी उसे बनाये रखने की दृष्टि से साधना आवश्यक है। साधना में परिपूर्णता लाने के लिए भक्ति की आवश्यकता है। समर्थ रामदास खुद मूर्तिपूजक थे और उन्होंने दूसरों को भी मूर्ति–पूजा करना सीखाया। एक विकट एवं विपरीत समय से उन्होंने नवीन देवालयों के निर्माण एवं मूर्ति–स्थापना को उत्सव

के रूप में शुरू की। उन्होंने देवालयों के गर्भगृह में राम, सीता व लक्ष्मण की मूर्तियों को स्थापित किया परंतु हनुमान की मूर्ति गर्भगृह में स्थापित न करके मंदिरों के बाहर कहीं भी स्थापित करने की एक नई परंपरा शुरू की और इस प्रकार उन्होंने गर्भगृह की अवधारणा ही बदल दी। उन्होंने यह भी स्थापित किया कि राम की भक्ति करना या राम के दास की भक्ति करना दोनों का फल ब्रह्म–साक्षात्कार जैसा है। उन्होंने ग्यारह मारुति की स्थापना का उत्सव शुरू किया। उन्होंने ग्यारह सौ मठों में प्रशिक्षित महंतों को स्थापित किया और उन्हें व्यक्तिगत मोक्ष के बदले सामाजिक मुक्ति का पुरुषार्थ करना सिखलाया। इन्हीं मठों और महंतों ने उनके शिष्य शिवाजी महाराज के राजनैतिक अभियानों को संबल दिया। उनकी मान्यता थी कि जबतक स्वराज व तदंतर सुराज्य स्थापित नहीं हो जाता तब तक नैतिक और परमार्थिक शिक्षा देना सुगम नहीं होगा। मध्यकालीन दुर्दशा के लिए वे विदेशी आक्रांताओं की तुलना में इस देश के निवासियों खासकर क्षत्रियों के तेज नष्ट होने एवं ब्राह्मणों के अशास्त्रीय ढ़ोंग के बढ़ने की स्थिति को जिम्मेदार मानते थे। शत्रु से लड़ने के लिए गुप्त रीति से तैयारी करने एवं शत्रु की कमजोरी से फायदा उठाते हुए गुरिल्ला युद्ध जारी रखने के वे कुशल रणनीतिकार थे। वे शास्त्र और शस्त्र के अधिकारी आचार्य थे। उन्होंने एक तो सनातनी परंपरा में रूढ़ हो चुके ''गर्भगृह'' की अवधारणा में गुणात्मक रूपांतरण किया तो दूसरी ओर अपनी महान कृति दासबोध में भक्ति, पुरुषार्थ, नियति और कर्म जैसी सनातनी अवधारणाओं को युगानुकूल

स्वरूप प्रदान किया। वे निम्नलिखित क्षेत्रों में समन्वय का प्रयास कर रहे थे– 1. गार्हस्थ्य और परमार्थ, 2. सगुण और निर्गुण, 3. कर्म, भक्ति और ज्ञान, 4. धर्म और राजनीति, 5. विविध धार्मिक संप्रदायों की सनातनी धारायें, 6. जगत् की सत्यता और असत्यता, 7. भाग्य और पुरुषार्थ, 8. वैयक्तिक उन्नति और सामाजिक उन्नति, 9. विवेक और वैराग्य, 10. उक्ति और कृति, 11. ग्रांथिक ज्ञान और प्रत्यक्ष अनुभव, 12. प्रादेशिक भाषायें, देवनागरी भाषा और संस्कृत, 13. द्वैत और अद्वैत, 14. विभिन्न काव्यशैलियों में अभिव्यक्त सनातनी परंपरायें। इसका पहला राजनैतिक उपयोग शिवाजी महाराज ने किया था। परंतु उसके बाद यह आधुनिक हिन्दू चिन्तकों के सामान्य लक्षण के रूप में फैलता चला गया।

धीरे–धीरे यह भाव हिन्दू मान्यता में विकसित हुआ कि मनुष्य के बनाये सिद्धांत पर अड़ना अथवा लकीर का फकीर होना एक प्रकार का अहंकार है जबकि नियति की इच्छा के आगे झुकना या लचीला रूख अपनाना सांसारिक युक्ति है। सोच–समझ कर या राय–मशविरा कर के बनाये गये सामाजिक सिद्धांतों एवं सांस्कृतिक आदर्शों का सामान्य स्थिति में महत्त्व एक हद तक तो स्वीकारा जाता है लेकिन विशेष, विषम एवं विकट परिस्थितियों में हर व्यक्ति अपनी अंतरात्मा की आवाज या ईश्वरीय प्रेरणा के आधार पर निर्णय लेता है अथवा बलिदान देता है। बिना अंतरात्मा की स्वीकृति पाये या ईश्वर द्वारा बिना व्यक्तिगत निर्देश पाये केवल सामाजिक

आदर्शों एवं सिद्धांतों पर टिके रहने का उदाहरण हिन्दुओं में कम ही पाया जाता है। किसी राजा या महापुरुष के मत बदल जाने के बावजूद उनकी प्रजा या उनके अनुयायी हिन्दू समाज में सामान्यता नहीं बदलते। वे अपने पारंपरिक रीति–रिवाजों पर, अपनी व्यक्तिगत आस्था पर एवं व्यक्तिगत सूझ–बूझ पर बने रहते हैं पश्चिमी समाज एवं सेमेटिक धर्मों में राजा, धर्म गुरु, महापुरुष एवं शास्त्रीय धर्म ग्रंथों पर जैसी आस्था, विश्वास, बलिदान करने की तत्परता, उत्साह एवं सामूहिकता ऐतिहासिक रूप से देखने को मिलती है वह हिन्दू समाज में सामान्यतया नहीं मिलती।

भारत के किसी धर्म गुरु, महापुरुष या राजा को कभी यह उम्मीद नहीं रहती कि उनकी समझ, साधना या दावे को बिना व्यक्तिगत रूप से परीक्षा किये या बिना व्यक्तिगत रूप से अंतरात्मा की साक्षी पाये आम जन, प्रजा या अनुयायी सामूहिक अभियान का आधार बनायेंगे। फलस्वरूप समाजसुधार, धर्मसुधार, धर्मपरिवर्तन या सांस्कृतिक पुनर्निर्माण की प्रक्रिया भारत में सिद्धांतों, विचारधाराओं या दर्शनप्रणालियों के आधार पर नहीं चलती। किसी व्यक्ति का मूल्यांकन उसकी विचारधारा या सिद्धांत के आधार पर सामान्यतया नहीं किया जाता। एक सीमा से ज्यादा सिद्धांतों का महत्त्व नहीं माना जाता। व्यावहारिक आदर्श के पालन में एक प्रकार का लचीलापन पाया जाता है जिसका आधार हर व्यक्ति की अपनी

समझ, आत्मानुभूति एवं ब्रह्मानुभूति तथा समय–समय पर मिलने वाली अंतरात्मा की आवाज होती है।

यह लचीलापन विश्वामित्र, राम, कृष्ण एवं बुद्ध जैसे महापुरुषों में भी देखा जा सकता है। दूसरी ओर हरिश्चन्द्र एवं भीष्म पितामह की सिद्धांतवादिता एवं कठोर प्रतिज्ञा पर विपरीत परिस्थिति में भी कायम रहना एक प्रकार का अपवाद माना जा सकता है। सामान्यता यह माना जाता है कि भाग्य का संबंध तो कर्मफल से है एवं अकर्म का फल नहीं होता। जबकि नियति का संबंध ईश्वर की इच्छा से है। फलस्वरूप विपरीत परिस्थिति एवं असहज विश्व व्यवस्था में भी सांस्कृतिक पहचान एवं सनातनी रीति–रिवाजों को कायम रखते हुए पुरुषार्थ करने की रणनीतिक चतुराई हिन्दू समाज में पीढ़ी–दर–पीढ़ी विकसित की जाती रही है।

उपरोक्त संदर्भ में, आधुनिक भारत के सिद्धांतकार स्वामी विवेकानंदजी माने जा सकते हैं जबकि पारंपरिक भारत के समकालीन सिद्धान्तकार हिन्द स्वराज के सम्पादकजी (गाँधीजी) माने जा सकते हैं। दोनों में अंतर्विरोध नहीं विविधता है। स्वामी विवेकानंद 'शास्त्र' से 'लोक' की यात्रा करते हैं और हिन्द स्वराज के सम्पादकजी 'लोक' से 'शास्त्र' की यात्रा करते हैं। स्वामी विवेकानंद का प्रशिक्षण मूलतः ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के विद्यालय, प्रेसिडेंसी कॉलेज एवं साधारण ब्रह्म समाज में हुआ था और इसी पश्चिमी दृष्टि एवं पृष्ठभूमि से गुजरते हुए स्वामी रामकृष्ण परमहंस के सानिध्य में उनका रूपांतरण हुआ।

रूपांतरण के बाद वे पश्चिम की यात्रा पर गये। उन्होंने पश्चिम के एक वर्ग को प्रभावित भी किया और पश्चिम की उपलब्धियों को उन्होंने स्वीकारा भी तथा कुछ हद तक पश्चिम से वे प्रभावित भी हुए। समकालीन समृद्धि से चमकते भारतवासियों को एक अर्थ में स्वामी विवेकानंद का मानस पत्र कहना ज्यादा सही है, भले ही उनको मैकाले पुत्र कहने का चलन करीब–करीब रूढ़ हो चुका है।

स्वामी रामकृष्ण परमहंस एक ऐसे पुल हैं जिससे स्वामी विवेकानंद का आधुनिक भारत और महात्मा गाँधी का पारंपरिक भारत स्वाभाविक रूप से जुड़ जाता है। स्वामी विवेकानंद ने पारंपरिक भारत की लोक परंपरा को समझने की गंभीर कोशिश नहीं की थी। महात्मा गाँधी ने पारंपरिक भारत की शास्त्रीय परंपरा को समझने की कोशिश नहीं की थी। फलस्वरूप दोनों एक–दूसरे के पूरक कहे जा सकते हैं। श्रीरामकृण परमहंस की दृष्टि में सभी धर्म सत्य हैं और प्रत्येक धर्म के द्वारा ईश्वर के निकट पहुँचा जा सकता है। यानी जितने मत, उतने पथ। सभी धर्म सत्य हैं और भिन्न–भिन्न धर्मों का सहारा लेकर कोई भी आस्थावान व्यक्ति ईश्वर के पास पहुँच जाता है। ठीक उसी तरह जिस तरह नदियाँ भिन्न–भिन्न दिशाओं से आती हैं, परंतु सभी समुद्र में जा गिरती हैं। वहाँ पर सभी एक हैं।

श्रीरामकृष्ण की पहली मान्यता यह है कि सबसे पहले ईश्वर के दर्शन करना आवश्यक है। निराकार या साकार दोनों

प्रकार के ईश्वर का दर्शन फलप्रद है। जो ईश्वर मन–वाणी से परे हैं, वे ही भक्त की सुविधा एवं कल्याण के लिए देहधारण करके दर्शन देते हैं और बात करते हैं। ईश्वर दर्शन के बाद, उनका निर्देश लेकर ही लोकहित के कार्य करने चाहिए। ईश्वर का निर्देश पाने के लिए पहले चित को शुद्ध करना चाहिए। मन एवं चित शुद्ध होने पर भगवान पवित्र आसन पर आकर बैठते हैं। रामकृष्ण कहते हैं कि पहले ईश्वर तत्त्व में डुबकी लगाओ। बिना डुबकी लगाओ। बिना डुबकी लगाये और ईश्वर का आशीर्वाद पाये लोगों को समझाना कठिन काम है। भगवान के दर्शन के बाद यदि किसी को उनका आदेश प्राप्त हो, तो वह लोक–शिक्षा दे सकता है। भगवान के निर्देश के बिना लोकशिक्षा नहीं होती। वे सरलता से पूछते हैं कि शास्त्र कितना पढ़ोगे? केवल विचार करने से क्या होगा? पहले ईश्वर की कृपा प्राप्त करने की चेष्टा करो। पुस्तकें पढ़कर क्या जानोगे? पढ़ने तथा अनुभव करने में बहुत अंतर है। ईश्वर–दर्शन के बाद शास्त्र, विज्ञान आदि सब कूड़ा–कर्कट जैसे लगते हैं। बिना साधना एवं पुरुषार्थ के ईश्वर के साथ परिचय नहीं होता। ईश्वर प्राप्ति के लिए निर्जन में उन्हें पुकारो। कुछ दिन सब कुछ छोड़कर उन्हें अकेले में पुकारो। धर्म का उद्देश्य है ईश्वर को प्राप्त करना, उनका दर्शन करना। श्री रामकृष्ण यह भी कहते हैं कि आस्थावान हिन्दू शब्दों और सिद्धांतों के जाल में समय बिताना नहीं चाहता। वह यथाशीघ्र ईश्वर का साक्षात्कार कर लेना चाहता है। कारण ईश्वर के केवल प्रत्यक्ष दर्शन से ही समस्त शंकाएँ दूर हो सकती हैं।

अतः हिन्दू ऋषि आत्मा के विषय में, ईश्वर के विषय में अक्सर यही प्रमाण देते हैं कि "मैंने आत्मा का दर्शन किया है, मैंने ईश्वर का दर्शन किया है।" हिन्दुओं की सारी साधना–प्रणाली का लक्ष्य केवल एक ही है और वह है सतत अध्यवसाय द्वारा पूर्ण बन जाना, देवता बन जाना, ईश्वर के निकट पहुँचकर उनका दर्शन करना। और इस प्रकार ईश्वर–सान्निध्य को प्राप्त कर उनका दर्शन कर लेना, ईश्वर के समान पूर्ण हो जाना– यही असल में हिन्दू धर्म है।

रामकृष्ण कहते हैं कि धर्म केवल सिद्धांतों या मतवादों में नहीं है। सभी धर्मों का चरम लक्ष्य है आत्मा में परमात्मा की अनुभूति। यही एक सार्वभौमिक धर्म है। समस्त धर्मों में यहि कोई सार्वभौमिक सत्य है तो वह है ईश्वर का प्रत्यक्ष दर्शन करना। परमात्मा और उनकी प्राप्ति के साधनों के संबंध में विभिन्न धर्मों की धारणाएँ भिन्न–भिन्न भले हीं हो, पर उन सब में वही एक केंद्रीय भाव है। सहस्र त्रिज्याएँ भले ही हों, पर वे सब एक ही केंद्र में मिलती है, और यह केंद्र है ईश्वर का साक्षात्कार– इस इन्द्रिय–ग्राह्य जगत् के पीछे, इस निरन्तर खाने–पीने और थोथी बकवास के पीछे, इन उड़ते छाया–स्वपनों और स्वार्थ से भरे इस संसार के पीछे वर्तमान किसी सत्ता की अनुभूति। समस्त ग्रन्थों और धर्म मतों के अतीत इस जगत् की असारता से परे वह वि।मान है, जिसकी अपने भीतर ईश्वर के रूप में प्रत्यक्ष–अनुभूति होती है। कोई व्यक्ति संसार के समस्त गिरजाघरों में आस्था भले ही रखता

हो, अपने सिर में समस्त धर्मग्रन्थों का बोझ लिये भले ही घूमता हो, इस पृथ्वी की समस्त नदियों में उसने भले ही बप्तिस्मा लिया हो, फिर भी यदि उसे ईश्वर–दर्शन न हुआ हो तो उसे रामकृष्ण घोर नास्तिक ही मानते हैं।

स्वामी विवेकानंद ने भी अपने राजयोग नामक ग्रन्थ में लिखा है कि सभी धर्माचार्यों ने ईश्वर को देखा था। उन सभी ने आत्मदर्शन किया था; अपने अनन्त स्वरूप का सभी को ज्ञान हुआ था, अपनी भविष्य अवस्था देखी थी और जो कुछ उन्होंने देखा था, उसी का वे प्रचार कर गये हैं। भेद इतना ही है कि प्रायः सभी धर्मों में, विशेषतः आजकल के, एक अद्भूत दावा हमारे सामने उपस्थित होता है; वह यह है कि इस समय ये अनुभूतियाँ असंभव है; जो धर्म के प्रथम संस्थापक है; वह यह है कि इस समय ये अनुभूतियाँ असंभव है जो धर्म के प्रथम संस्थापक हैं, बाद में जिनके नाम से उस धर्म का प्रवर्तन और प्रचलन हुआ है, केवल उन थोड़े आदमियों को ही ऐसा प्रत्यक्षानुभव संभव हुआ था; अब ऐसे अनुभव के लिए रास्ता नहीं रहा, फलतः अब धर्मों पर केवल विश्वास भर कर लेना होगा। विवेकानंद कहते हैं कि 'इसको मैं पूरी शक्ति से अस्वीकृत करता हूँ। यदि संसार में किसी प्रकार के विज्ञान के द्वारा किसी भी विषय की किसी व्यक्ति ने कभी प्रत्यक्ष अनुभूति या उपलब्धि प्राप्त की है, तो इससे इस सार्वभौमिक सिद्धांत पर पहुँचा जा सकता है कि पहले भी कोटि–कोटि बार उसकी उपलब्धि की संभावना थी, बाद को भी अनन्त काल तक

उसकी उपलब्धि की सम्भावना रहेगी। समवर्तन ही प्रकृति का सार्वभौमिक नियम है। एक बार जो घटित हुआ है, वह फिर घटित हो सकता है।'

स्वामी विवेकानंद कहते हैं कि संसार के अन्य धर्मों की तुलना में हिन्दू धर्म में एक भाव विशेष रूप से पाया जाता है। वह भाव यह है कि मनुष्य को इसी जीवन में ईश्वर की प्राप्ति करनी होगी। इस प्रकार, द्वैतवादियों के मतानुसार ब्रह्म की उपलब्धि करना, ईश्वर का साक्षात्कार करना, या अद्वैतवादियों के कहने के अनुसार ब्रह्म को जानना – यही वेदों के समस्त उपदेशों का एकमात्र लक्ष्य है।

रामकृष्ण परमहंस ने भ पुराणों के आधार पर इसी को दूसरे तरीके से कहा है। एक पुराण के मत में श्रीकृष्ण चिदात्मा हैं और श्रीराधा चित्शक्ति। एक दूसरे पुराण में श्रीकृष्ण को ही काली और आद्याशक्ति कहा गया है। देवी पुराण के मत से काली ने ही कृष्ण का स्वरूप धारण किया है। वास्तव में ईश्वर अनंत हैं और उन तक पहुँचने के मार्ग भी अनंत हैं। जिसने यह रहस्य समझ लिया है उस पर ईश्वर की दया है। ईश्वर की कृपा हुए बिना कभी संशय दूर नहीं होता। असल बात यह है कि किसी तरह उन पर भक्ति होनी चाहिए, प्यार होना चाहिए। अनेक खबरों से क्या काम है? एक रास्ते से चलते–चलते अगर उन पर प्यार हो जाये तो काम बन गया। प्यार के होने से ही उन्हें आदमी पाता है। इसके बाद अगर जरूरत होगी तो वे समझा देंगे– सब रास्तों की खबर

बतला देंगे। ईश्वर पर प्यार होने से ही काम हुआ– तरह–तरह के विचारों की क्या आवश्यकता है? आम खाने के लिए आये हो आम खाओ, कितनी डालियाँ हैं, कितने पत्ते हैं, इन सब के हिसाब से क्या मतलब? हनुमान का भाव चाहिए– ''मैं वार, तिथि, नक्षत्र, यह सब कुछ नहीं जानता, मैं तो बस श्रीरामचन्द्रजी का स्मरण किया करता हूँ''।

इस तरह हम देखते हैं कि स्वामी रामकृष्ण परमहंस की शिक्षाओं और स्वाकी विवेकानंद के आध्यात्मिक व्यावहारिकतावाद संबंधी विचारों में गहरा संबंध है। स्वामी विवेकानंद अंग्रेजी राज को बिना नाराज किये अंग्रेजी राज द्वारा इस देश में स्थापित एवं प्रायोजित आधुनिक परिस्थितियों का सनातनी भारत के युगानुकूलन एवं विकास के लिए सदुपयोग करना चाहते थे। इसके लिए उन्होंने एक खास प्रकार की रणनीति अपनाई जिसमें भगवान बुद्ध की तरह, अप्रिय एवं विवादास्पद हो सकने वाले प्रसंगों पर, मौन रहना या बिना विस्तार में गये सांकेतिक बात करना शामिल था। उनकी इस रणनीति को समझे बिना विवेकानंद साहित्य को सेमेटिक धर्मग्रंथों की तरफ पाठ करने के पिछले 100 वर्षों में खतरनाक अर्थ निकाले गये हैं और विवेकानंदजी की बातों के अर्थ का अनर्थ तक किया गया है।

कुछ विवेकानंदवादी लोग भारत की गुलामी और गुलामी के दौरान भारतीय लोगों की बदहाली और भारतीय संस्कृति को पोषित करने वाली संस्थाओं एवं विशेषज्ञों के क्षरण

तथा विरूपीकरण में आधुनिक पश्चिमी सभ्यता की प्रतिनिधि अंग्रेजी राज के कारनामों को बहुत सफाई से नजरंदाज कर अंततः वर्गहितों की अप्रत्यक्ष वकालत करते नजर आते हैं। ये लोग खगोलीकरण को समर्थन देने के लिए अंग्रेजी राज के पापों को भी जाने–अनजाने आध्यात्मिक तर्कबोध से नजरअंदाज कर देना चाहते हैं ऐसा करके उनका उद्देश्य अँग्रेजी राज के दौरान भारतीय इतिहास को बदलना और स्वतंत्रता आंदोलन एवं महात्मा गाँधी के योगदान को कम करना होता है। इसके विपरीत, महात्मा गाँधी की चिन्ता सनातन भावबोध एवं सनातन राजनैतिक अर्थशास्त्र का समन्वय करके एक ऐसी सभ्यता के विकास को संभव बनाना था जिसमें पूरब और पश्चिम दोनों जगह के आम जनों का सर्वांगीण विकास हो परंतु वह किसी दूसरे व्यक्ति, समाज, राष्ट्र या सभ्यता के साथ शोषण, लोभ, छल, हिंसा या असत्य पर आधारित नहीं हो।

गाँधी जैसे राम भक्त वैष्णव ने गीता की केन्द्रीयता अकारण नहीं स्वीकारी थी। आदि शंकराचार्य के समय से विद्वान (ज्ञानी) कहलाने या स्वीकारे जाने के लिए प्रस्थान त्रयी (ब्रह्म यूत्र, उपनिषद् एवं गीता) पर भाष्य करना आवश्यक माना जाता रहा है। अंग्रेजी राज के दौरान बंगाल के एशियाटिक सोसाइटी में विलियम जोन्स, कोलब्रुक, विलकिस जैसे भारतविद्या (इंडोलॉजी) के झंडाबरदारों ने प्रस्थान त्रयी में से सबसे पहले ब्रह्मसूत्र को महत्त्वहीन घोषित किया। फिर 9

उपनिषद्‌ों को वैकल्पिक घोषित किया। और अंत में ईसाईयों के बाइबिल और मुसलमानों के कुरान की तर्ज पर हिन्दुओं के गीता को एक पवित्र ग्रंथ के रूप में स्थापित किया। इसी काम को ईस्ट इंडिया कम्पनी की महत्त्वाकांक्षी प्रकाशन योजना 'द स्रेक्रेड बुक्स ऑफ द ईस्ट' (पूर्वी सभ्यताओं के पवित्र ग्रंथ) ने तार्किक परिणति प्रदान की। कम्पनी ने इस श्रृंखला का संपादक ऐसे व्यक्ति (मैक्समूलर) को बनाया जो न तो संस्कृत का मान्यता प्राप्त विद्वान था और न भारतीय संस्कृति का व्यवस्थित जानकार। जबकि उस वक्त यूरोप में ऐसे सैकड़ों लोग उपलब्ध थे जिन्हें संस्कृत भाषा, भारतीय दर्शन एवं सनातन परंपरा के बारे में मैक्समूलर की तुलना में ज्यादा व्यवस्थित और ज्यादा गहरी जानकारी थी। फलस्वरूप जाने अनजाने मैक्समूलर जैसे विद्वानों ने वेदों को वैदिक जनजातियों (गड़ेरिया आदि) का ऐसा गीत मान लिया जिसका केवल ऐतिहासिक विकास की प्रारंभिक, अज्ञानपूर्ण अवस्था को समझने में भाषा विज्ञान एवं इतिहास की दृष्टि से सीमित महत्त्व था।

राममोहन राय से लेकर, ईश्वरचंद्र विद्यासागर तक, राणाडे से लेकर रवीन्द्रनाथ टैगोर तक अधिकांश पढ़े लिखे लोगों ने वेद एवं वैदिक वाङःमय को नकार दिया। धर्म की पारंपरिक व्याख्या, इसके पारंपरिक स्वरूप और इसके पारंपरिक स्रोतों का स्थान आधुनिक यूरोप के भारतविद्याविदों के विमर्श ने ले लिया। यह मान लिया गया कि भारत के पास

गर्व करने लायक केवल एक ही चीज है इसका मोक्ष प्राप्ति एवं संसारिक सुख–दुख, सफलता–असफलता, लाभ–हानि, गुलामी–स्वतंत्रता आदि को "माया" मानने वाला असंसारिक अध्यात्म जबकि आधुनिक पश्चिम के पास है एक ऐसा विज्ञान, तकनीक, दर्शन, समाजविज्ञान एवं मानविकी जिसके आधार पर कोई भी समाज विकसित, समृद्ध एवं बलशाली बन सकता है। भारतीय अध्यात्म को स्थापित करने एवं समझने–समझाने के लिए शंकराचार्य को भारतीय दर्शन का इमैनुएल कैंट कहा गया है और उनके द्वारा लिखित गीता भाष्य को बाइबिल जैसा केन्द्रीय ग्रंथ घोषित कर दिया गया। फलस्वरूप अंग्रेजी ढ़ंग और माध्यम से पढ़े–लिखे भारतीय लोग अपनी परंपरा से विचलित होकर एक कृत्रिम बौद्धिक विमर्श में लगी। इस आधार पर तीन वर्ग विकसित हुएः

(1) पहला वर्ग ऐसे भारतीयों का रहा है जिन्हें लगता है कि भारत में ऐसा कुछ भी नहीं है जो काम लायक, सुखदायक या संतोषप्रद है। जो भी अच्छा है वह या तो मध्यकाल में तुर्कों, मंगोलों, अफगानों, पारसियों के संपर्क से आया है या अंग्रेजों, फ्रांसिसियों, पुर्तगालियों, जर्मनों, डचों एवं अमेरिकी प्रभाव से आया है। अतः भविष्य बनाने के लिए हमें हर हाल में पश्चिम की नकल करना पड़ेगा। कोई और रास्ता नहीं है। इस वर्ग के नायक राजा राममोहन राय, डेविड हेयर और हेनरी विवियन डिरोजियो एवं इनके अनुयायी रहे हैं। राममोहन राय के अनुयायी ब्रह्म समाज नामक संगठन में एवं डिरोजियों

की शिष्य मंडली ''तरूण बंगाल'' नामक मंच तले सक्रिय रहे हैं। 1833 में राममोहन राय की मृत्यु के कुछ समय बाद ब्रह्म समाज द्वारकानाथ टैगोर के परिवार (बेटे देवेन्द्रनाथ टैगोर और पोते रवीन्द्रनाथ टैगोर) एवं केशवचंद्र सेन के अनुयायियों में बँट गया। केशवचंद्र सेन के ईसाई बन जाने के बाद साधारण ब्रह्म समाज नामक एक अलग समूह विकसित हुआ, जिसके अनुयायियों में ब्रह्मबांधव उपाध्याय और नरेन्द्रनाथ दत्त आदि शामिल थे। नरेन्द्रनाथ दत्त केशवचंद्र सेन के मित्र स्वामी रामकृष्ण परमहंस के प्रभाव में आते चले गये और बाद में स्वामी विवेकानंद कहलाये।

ब्रह्मबांधव उपाध्याय केशवचंद्र सेन की तरह ईसाई बन गये। डिरोजियों के अधिकांश अनुयायी ईसाई धर्म स्वीकार कर प्राचीन परंपराओं की खिल्ली उड़ाने लगे एवं सामाजिक तथा धार्मिक रीतियों की उपेक्षा करते हुए नारी शिक्षा, मद्यपान एवं गो–मांस भक्षण की वकालत करने लगे। राममोहन राय के अन्य अनुयायियों में विजयकृष्ण गोस्वामी प्रमुख थे। आरंभ में वह भी ब्रह्म समाजी थे, लेकिन बाद में वैश्णव संत बन गये। स्वदेशी आंदोलन के चार प्रमुख कर्णधार–विपिनचंद्र पाल, अश्विनीकुमार दत्त, सतीशचंद्र मुखर्जी और मनोरंजन गुहा ठाकुर चारो विजयकृष्ण गोस्वामी के ही शिष्य थे।

ईश्वरचंद्र विद्यासागर पर भी राममोहन राय का महत्त्वपूर्ण प्रभाव था। भारत के मार्क्सवादियों में से अधिकांश खुद को राममोहन राय और उनके ब्रह्म समाज आंदोलन से

किसी न किसी रूप में प्रभावित मानते रहे हैं। इस वर्ग के समकालीन अनुयायियों में से अधिकांश आजकल भारत में रहना अपनी लाचारी मानते हैं और जब भी मौका मिलता है भारत और भारतीयों को हीन एवं हीनतर कहने, लिखने एवं साबित करने में जुटे रहते हैं।

राजा राममोहन राय ने अपने दृष्टिकोण में पूर्व तथा पश्चिम के सर्वोत्तम विचारों का समन्वय स्थापित करना चाहा था। उन्होंने अपनी युवावस्था में वाराणसी में परंपरागत संस्कृत साहित्य तथा सभ्यता का अध्ययन किया। पटना में उन्होंने फारसी और अरबी विद्या का गंभीरता से अवगाहन किया। दूरवर्ती, समतल मैदानी तथा पर्वतीय भूभागों की यात्रा करके उन्होंने विभिन्न प्रांतीय संस्कृतियों, तिब्बती बौद्ध धर्म तथा जैन धर्म का भी ज्ञानोपार्जन किया। आगे चलकर, उन्होंने अपने जीवन में अंग्रेजी विचारों तथा पाश्चात्य सभ्यता पर भी यथेष्ट अधिकार प्राप्त किया। ईसाई धार्मिक साहित्य का उन्हें पूर्ण ज्ञान था। जीवन के चौथे दशक में उन्होंने फारसी में लिखित ''तुहफानुल मुवाहिदीन'' (एकेश्वरवादियों को उपहार) नामक पुस्तक में यह तर्क दिया कि सभी धर्मों की स्वभाविक प्रवृत्ति एकेश्वरवाद की ओर है, किंतु दुर्भाग्यवश लोगों ने सदा अपने विशिष्ट संप्रदाय, पूजन–विधि तथा आचरण पर अधिक बल दिया है जिसके कारण एक धर्म दूसरे से पृथक बन जाता है। 1815 और 1817 ई. के बीच उन्होंने ''वेदांत'' का बंगला अनुवाद तथा उसका एक संक्षिप्त संस्करण प्रकाशित किया।

उन्होंने बताया कि विवेकहीन मूर्तिपूजा के फलस्वरूप जनसाधारण का चारित्रिक पतन हुआ है। इसलिए वे अपना कर्तव्य समझे हैं कि उसे उसके भार तथा तद्जन्य दासता से मुक्ति दिलाएं एवं उनकी सुख–समृद्धि में वृद्धि लाएं। उनके विचार से कोई भी विशेष धर्म ग्रंथ त्रुटियों से रहित नहीं और यह मानव का जन्मजात अधिकार है कि वह परंपराओं से हटकर चले, विशेषकर यदि परंपराएं "सीधे अनैतिकता की ओर ले जाती हों और सामाजिक सुखों के मार्ग में बाधक बनती हों।" 1820 में उन्होंने "यीशु के वचन" (प्रीसेप्ट्स ऑफ जीसस) का प्रकाशन किया। इसमें उन्होंने विशिष्ट ईसाई सिद्धांतो तथा ईसाई महापुरुषों के चमत्कारिक कृत्यों की कहानियों के प्रति आस्था से यीशु के नैतिक संदेशों को पृथक किया। उनके विचार से लोगों पर ईसाई धर्म की नैतिक शिक्षा का उनके आध्यात्मिक धर्म शास्त्र की अपेक्षा अधिक प्रभाव पड़ता है। शुरू–शुरू में ईसाई धर्म प्रचारकों को राममोहन राय काफी अनुकूल लगते थे और इस अनुकूलता के बदले उन्हें सहयोग भी दिया गया। परंतु धीरे–धीरे राममोहन राय से उनका मोह भंग होने लगा। फलस्वरूप, ईसाई धर्म प्रचारकों ने राममोहन राय जैसे साहसी "धर्म विरोधियों" से संघर्ष प्रारंभ कर दिया था। 1820 और 1823 के बीच राममोहन राय ने अपनी स्थिति के पक्ष में "ईसाई जनता के प्रति तीन अपीलें" (एपील्स टु द क्रिस्ट्यन पब्लिक) प्रकाशित कीं। 1821 और 1823 के बीच "ब्रह्म समाज" नामक पत्रिका (ब्राह्मनिकल मैगजीन) में उन्होंने भारत की विशिष्ट परंपराओं के प्रति गहरी

आस्था व्यक्त की और अपने देशवासियों की ओर से ऐसे ईसाई धर्म प्रचारकों का विरोध किया जो निर्धन, भीरू एवं विनीत भारतवासियों का बलात् धर्म परिवर्तन करते थे तथा अपने धर्म के पक्ष में कोई विवेकपूर्ण तर्क प्रस्तुत न करके देशी धर्मों की खिल्ली उड़ाते थे। ईसाई धर्म स्वीकार करने वाले व्यक्तियों को सांसारिक प्रलोभन दिये जाने का भी राममोहन राय ने बाद के दिनों में विरोध किया। परंतु अंत तक राममोहन राय ईसाई धर्म के उत्तम स्वरूप के विरोधी न थे। वे उसे अपने देशवासियों पर अच्छा प्रभाव मानते थे। उन्होंने बंगला भाषा में बाइबिल के गॉस्पेल (सुसमाचार) का अनुवाद करने में सिरामपुर के कुछ पादरियों की कुछ सहायता भी की थी। 1830 में उन्होंने स्कॉटिस धर्म प्रचारक डफ को नास्तिक शिक्षा के विरूद्ध जेहाद में भी अत्यधिक सहायता की। धीरे–धीरे वह एक ऐसे विश्व धर्म की ओर अग्रसर हो रहे थे जो हिन्दू और ईसाई परंपराओं के एकेश्वरवादी बुद्धिवाद एवं विवेकवाद पर आधारित मानववादी धर्म होता। परंतु 1833 में उनकी आकस्मिक मृत्यु हो गई और वे ब्रिटेन के एक ईसाई कब्रिस्तान (यूनियनिस्ट चर्च) में ही दफनाये गये जहाँ आज भी यूनियनिस्ट चर्च और ब्रह्मसमाज की सम्मिलित सभाएँ होती हैं। धीरे–धीरे ब्रह्म समाज आंदोलन विपरीत दिशाओं में विभाजित होकर बिखरने लगा।

ऐतिहासिक रूप से राममोहन राय पहले भारतीय माने जाते हैं जो भारत पर समृद्ध पश्चिमी प्रभाव के प्रतीक बने।

राममोहन राय हमेशा दिखावटी धर्म और संस्कृति की सीमाओं को तोड़ने की कोशिश करते रहे। यहाँ तक कि इस बात पर भी संदेह किया जा सकता है कि यूरोपीय अर्थों में वे धार्मिक न होकर एग्नॉस्टिक थे और विश्व धर्म की उनकी योजना अकबर के 'दीन–ए–इलाही' की तरह का एक रणनीतिक प्रोजेक्ट था न कि आस्थावान अभियान। यदि वह किसी धर्म में विश्वास करते भी थे तो उनके विश्वास के धर्म का अर्थ उस अर्थ से पूर्णतया भिन्न था जो हम सामान्यता धर्म से लेते हैं। हालांकि राममोहन राय के एकेश्वरवादियों से घनिष्ठ संबंध थे लेकिन उनके विचारों में उनकी पूर्ण आस्था नहीं थी। उनके "यथार्थवाद" ने उन्हें बताया कि भारतीय समाज बीमार है। राममोहन ने अपने देशवासियों की बीमारी का निदान विश्व संस्कृति के व्यापक संदर्भ में खोजा। उनके कार्य को ब्रह्म समाज के बाहर डिरोजियो के अनुयाइयों और ईश्वरचंद्र विद्यासागर ने आगे बढ़ाया। राममोहन की परंपरा में अंतिम महान व्यक्ति रवींद्रनाथ टैगोर थे। 1920–21 के राष्ट्रवादी जोश में जब भारत आंदोलित था तो महात्मा गाँधी ने राममोहन राय को "उपनिषद्रों के अनजान लेखकों की तुलना में बौना" कहा था। इरफान हबीब, तपन रायचौधरी एवं धर्मपाल जैसे इतिहासकारों ने अंग्रेजी राज से पहले के भारतीय समाज, अर्थव्यवस्था, विज्ञान एवं तकनीक तथा शिक्षा के बारे में प्रामाणिक दस्तावेज एवं सूचनाएँ प्रकाशित की हैं जिसके आधार पर भारतीय समाज बीमार नहीं बल्कि काफी समृद्ध एवं खुशहाल नजर आता है। दादा भाई नौरोजी एवं रमेश चंद्र दत्त

जैसे विद्वानों ने अपने लेखन से यह साबित कर दिया था कि भारत में गरीबी, भुखमरी एवं शोषण का जैसा अत्याचार अंग्रेजी राज में अंग्रेजों की गलत नीतियों के कारण हुआ वह पहले के भारतीय इतिहास में नहीं पाया गया। समकालीन इतिहासकार भी यही मानते हैं कि राममोहन राय की विचारधारा भारतीय इतिहास के यथार्थ से प्रभावित नहीं होकर भारत के बारे में अंग्रेजी राज की विचारधारा और कुप्रचार से प्रभावित थी।

(2) दूसरे वर्ग के नायक स्वामी दयानंद सरस्वती माने जाते हैं। स्वामी दयानंद ने कहा कि हमें पश्चिम से विज्ञान–तकनीक सीखने की आवश्यकता नहीं है। उनके अनुसार हमारी वैदिक परंपर में–वेदों में विज्ञान एवं तकनीक भरा पड़ा है। फलस्वरूप वे और उनके अनुयायी वैदिक साहित्य में आधुनिक किस्म के विज्ञान एवं तकनीक खोजने लगे। आगे चलकर दयानंदजी के अनुयायी दो समूहों में, दो रास्तों पर चलने लगे (क) गुरूकुल कांगड़ी से जुड़े अनुयायी (पंडित गुरूदत्त, लाला मुंशीराम, पंडित लेखराम आदि) पारंपरिक विज्ञान एवं तकनीक के अध्ययन, अध्यापन एवं प्रयोग में लग गये (ख) दयानंद ऐंग्लो वैदिक विद्यालय एवं महाविद्यालय चलाने के लिए कटिबद्ध लोग (लाला हंसराज, राय मथुरादास, लाला लाजपत राय आदि) वैदिक परंपरा एवं अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली के बीच, कुछ स्वप्रेरणा से तो कुछ थियोसोफिकल सोसाइटी के प्रभाव में, समन्वय की कोशिश करने लगे। परंतु दोनों समूहों के आर्य–समाजी दो अन्य बातों

पर सहमत थे कि (क) हिन्दू समाज इसलिए गुलामी में जीने को अभिसप्त है चूँकि यह सामाजिक कुरीतियों एवं अंधविश्वास के कारण भीतर से कमजोर और दिशाहीन हो गया है; (ख) इससे निजात पाने का एकमात्र उपाय यूरोपीय ढ़ंग के सुधार (धर्म एवं समाज सुधार) आंदोलन से निकलेगा। स्वामी दयानंद सरस्वती की पुस्तक सत्यार्थ प्रकाश एवं ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका का आर्यसमाजियों के लिए वही महत्त्व हो गया जो बंगाल के सुधारवादियों के लिए गीता एवं उपनिषदों के शंकर भाष्य का था।

स्वामी दयानंद सरस्वती का जन्म 1824 में एवं मृत्यु 30 अक्टुबर 1883 में हुई। 1857 की क्रांति के दौरान ये मेरठ के आसपास सक्रिय थे। मंगल पांडे पर इनका प्रभाव माना जाता है। स्वामी दयानंद 1860 से 1863 तक स्वामी बिरजानंद के सानिध्य में रहे और यहीं से इनकी जीवन धारा बदल गई। अब इनके जीवन का लक्ष्य हिन्दू धर्म की असंगतियों को दूर करना तथा वैदिक धर्म को पुनः स्थापित करना हो गया। 1872 ई. में दयानंदजी कलकत्ता गये जहाँ इनकी मुलाकात देवेन्द्रनाथ टैगोर आदि से हुई। 1875 ई. में आर्य समाज, बंबई की स्थापना हुई तथा ''सत्यार्थ प्रकाश'' का प्रकाशन हुआ। 27 फरवरी 1886 को डी.ए.वी. ट्रस्ट एवं सोसाइटी की पहली बैठक शुरू हुई एवं 1 जून 1886 को लाहौर में डी.ए.वी. स्कूल शुरू हो गया। 1886 के बाद आर्य समाज दो भागों में विभाजित होकर काम करने लगा।

सत्यार्थ प्रकाश में स्वामी दयानंद ने हिन्दू धर्म और समाज के पुनर्गठन के लिए वैदिक धर्म को आधार बनाया है। इस पुस्तक में उन्होंने अपने समय में फैली धार्मिक कुरीतियों, जड़ता, पाखंड और भ्रष्टाचार की कड़ी आलोचना की है। भारत के नवजागरण में दयानंद की खास पहचान सत्यार्थ प्रकाश के प्रकाशन के बाद बनी। उन्होंने राष्ट्रीय एकता के लिए आवाज उठायी, किन्तु राष्ट्रीय एकता की उनकी अवधारणा सभी भारतवासियों द्वारा वेदों की सत्ता और हिन्दू धर्म को स्वीकार करने पर आधारित थी। उन्होंने प्रार्थना समाज और ब्रह्म समाज के सामाजिक सुधारकों की निंदा की, क्योंकि ''इन समाजों के लोगों में देशभक्ति का अत्यधिक अभाव है और अनेक बातों में उन्होंने ईसाइयों का अनुकरण किया है।'' ब्रह्म समाज का विरोध करने का एक कारण यह था कि ''ब्रह्म समाज की पवित्र पुस्तक में संतों की सूची में ईसा, मोसेज, मोहम्मद, नानक और चैतन्य तक के नाम दिये गये हैं, किन्तु अतीत के ऋषियों में से एक का नाम भी नहीं है। इससे कोई भी सहज ही समझ सकता है कि इल लोगों की मान्यताएं वे ही हैं, जो इनकी पवित्र पुस्तक में गिनायी विभूतियों की शिक्षाओं से उद्‌भूत हैं।''

आर्य समाज ने जनता में देशभक्ति की भावनाएं इस पुनरूत्थानवादी नारे के आधार पर जगाने की कोशिश की: ''वेदों की ओर लौटो!'' वह वेदों को ईश्वर का वाक्य मानते थे, अतः उनमें किसी प्रकार की त्रुटि की सम्भावना नहीं थी।

दयानंद के अनुसार वेद न केवल अतीत के संबंध में, वरन भविष्य के बारे में भी, ज्ञान के मूर्त रूप हैं। ''वैदों को स्वीकार करने से सम्पूर्ण सत्य स्वीकार कर लिया जाता है।'' राज राममोहन राय एवं राणाडे वैदिक अवधारणाओं और तर्क में टकराव होने पर जहाँ तर्क का पक्ष लेना श्रेयष्कर समझते थे, वहाँ दयानंद का यह दृढ़ मत था कि वेद ही किसी समस्या का अंतिम समाधान प्रस्तुत कर सकते हैं। उन्होंने अपनी विचारधारा को निम्न रूप में अभिव्यक्त किया हैः ''मैं मानता हूँ कि चारों वेद—जो ज्ञान और धर्म संबंधी सत्यों के निधान हैं— स्वयं ईश्वर के वचन हैं। उनमें केवल संहिता मंत्रों का संकलन है। वे त्रुटियों से पूर्णतः मुक्त हैं और स्वयमेव सबसे बड़ी सत्ता है। दूसरे शब्दों में, उनकी सत्ता की प्रामाणिकता के लिए किसी अन्य ग्रंथ की आवश्यकता नहीं है। जिस प्रकार सूर्य अथवा दीपक अपने प्रकाश से स्वयं अपने स्वरूप तथा ब्रह्माण्ड की अन्य वस्तुओं, जैसे पृथ्वी आदि, को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार वेद प्रकाशित है।''

सत्यार्थ प्रकाश 19वीं सदी में हिन्दू नवजागरण का महत्त्वपूर्ण ग्रंथ माना जाता है। सत्यार्थ प्रकाश की रचना 1874 में की गई थी और पहली बार यह 1875 में स्टार प्रेस, बनारस से छपा। आर्य समाजी इसे आधार ग्रंथ मानते हैं। सत्यार्थ प्रकाश से समाज का जो हिस्सा प्रभावित हुआ उसमें खासकर पश्चिमी उत्तर प्रदेश और पंजाब के खत्री, अरोड़ा, बनियां, कायस्थ और जाट जैसी मंझोली और ऊँची जातियों का

अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त वर्ग था जिसने ऊँची सरकारी नौकरियों और व्यापार से अपनी आर्थिक हालत अच्छी बना ली थी और पौराणिक धर्म की अतार्किक एवं खर्चीली प्रथाओं से मुक्त होकर अपनी शिक्षा के अनुरूप एक नई प्रभावशाली धार्मिक–सांस्कृतिक पहचान बनाना चाहता था। यही वर्ग आर्यसमाज आंदोलन का सामाजिक आधार बना। लेकिन खुद दसानंद अंग्रेजी शिक्षा और यूरोपीय आधुनिकता के सम्पर्क में कभी नहीं आए। रामकृष्ण परमहंस और दयानंद, दोनों को अंग्रेजी शिक्षा नहीं मिली थी, फिर भी इन दोनों सन्यासियों ने अपने समय के अंग्रेजी शिक्षा सन्यासियों ने अपने समय के अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त युवकों को सबसे ज्यादा आकर्षित किया।

दयानंद का नवजागरण अंग्रेजी शिक्षा और पश्चिमी मूल्यों से प्रेरित न होकार हिन्दू धर्म के पतन के खिलाफ एक प्रतिक्रिया के रूप में उभरा था। हिन्दू धर्म और समाज की बुराइयों के खिलाफ उन्होंने विद्रोह किया। इस विद्रोह की जड़े लोकतंत्र और बुद्धि – विवेकशीलता की आधुनिक यूरोपीय धारणाओं में न होकर भारत की शास्त्रीय परंपरा में थी। परंतु उस वक्त तक इस देश में अंग्रेजी राज और पश्चिमी प्रभाव इतना हावी हो चुका था कि स्वामी दयानंद को अपने देश की संस्कृति और शास्त्रों की सनातनता खतरे में लगने लगी। उनकी प्रतिक्रिया में शत्रु की सबलता और अपनी संस्कृति की निर्बलता का काफी गहरा अहसास देखा जा सकता है। शत्रु से लड़ने के लिए उन्होंने शत्रुओं के शास्त्रीय मानदंड एवं तर्क

प्रणाली का हथियार के रूप में इस्तेमाल शुरू किया। फलस्वरूप उनके तर्क इस्लाम, ईसाईयत और ब्रह्म समाजियों के साथ–साथ सनातनी संप्रदायों के खिलाफ इस्तेमाल होते रहे। कुल मिलाकर आर्य समाज भारत के हिन्दुओं का एक गैर सनातनी संप्रदाय बन कर उभरा जो यूरोपिय मानदंडों पर धर्म एवं समाज के सुधार के लिए प्रतिबद्ध था।

दयानंद जिस धार्मिकता को कायम करना चाहते थे उसकी बुनियाद में दो सबसे खास बातें थीं – तर्क और नैतिकता। उन्होंने बहुदेववाद को अस्वीकार किया निराकार ईश्वर की आराधना का समर्थन किया परंपरागत ब्राह्मण पुरोहितों की अधं कट्टरता की आलोचना की, मूर्ति पूजा और बाल विवाह का विरोध किया तथा शिक्षा के प्रसार द्वारा नीची जाति के हिन्दुओं और स्त्रियों के स्तर को ऊँचा उठाने का प्रयत्न किया। इन सभी कार्रवाईयों के पीछे उनका उद्देश्य "हिन्दू धर्म" को सुदृढ़ बनाना था।

जन्म आधारिज वर्ण व्यवस्था मानने का विरोध करते हुए दयानंद ने तर्क दिया कि "जो कोई रज वीर्य्र से वर्णाश्रम व्यवस्था माने और गुण कर्मो के योग से न माने तो उससे पूछना चाहिए कि जो कोई वर्ण अपने को छोड़ नीच, अन्त्यज अथवा ईसाई, मुसलमान हो गया हो तो उसको भी ब्राह्मण क्यों नहीं मानते? यहाँ यही कहोगे कि उसने ब्राह्मण के कर्म छोड़ दिए इसलिए वह ब्राह्मण नहीं है।" दयानंद कहते हैं कि वैदिक साहित्य (वेदों और मनुस्मृति) में वर्ण जन्म पर आधारित न

होकर गुण–कर्म पर आधारित हैः "जिस–जिस पुरुष में जिस–जिस वर्ण के गुण–कर्म हों, उस–उस वर्ण का अधिकार देना।" स्वामी दयानंद के अनुसार ऐसी ही वर्ण व्यवस्था से समाज की तरक्की होगी। इससे ऊपरवाले वर्णों को डर रहेगा कि अगर हमारे गुण–कर्म ठीक नहीं रहे तो हमें निचला वर्ण में जाना पड़ेगा। साथ ही नीचे के वर्ण वालों को हौसला मिलेगा कि अच्छे गुण–कर्म करके ऊपर के वर्ण में पहुँचा जा सकता है। दयानंद के तर्कशीत विचारधारा के असर से 19वीं सदी के कारोबारी लोगों और शिक्षित शहरी मध्यवर्ग ने धर्म और समाज के प्रति एक विवेकशील रवैया अपनाया था। तर्क और नैतिकता पर धार्मिकता को खड़ा करने के लिए ही ज्ञान पर जोर दिया। इसने शिक्षित मध्यवर्ग के अंदर स्वदेशीपन और आत्मगौरव का भाव जगाया। धर्म को सामाजिक दृष्टि से उपयोगी और मनुष्य के लिए प्रेरणादायक बनाने वाले दयानंद ने विदेशी विज्ञान और तकनीक को भी मान्यता दी। लेकिन विदेशी संस्कृति और धर्म का विरोध किया।

(3) तीसरे वर्ग के नायक स्वामी रामकृष्ण के शिष्य स्वामी विवेकानंद माने जाते हैं। स्वामी विवेकानंद ने यह स्वीकार लिया कि भारत का भविष्य भारतीय वेदान्त (उपनिषद् एवं गीता के शंकर भाष्य पर आधारित अद्वैत वेदांत) एवं पश्चिमी ज्ञान–विज्ञान, दर्शन एवं नैतिकता के समन्वय पर ही निर्भर करता है। वेदान्त के तत्त्व ज्ञान से आत्मा को खुराक मिलेगी परंतु शरीर एवं मस्तिष्क के पालन पोषण के लिए

पश्चिम की मदद, पश्चिम की प्रेरणा आवश्यक है। आधुनिक पश्चिम की सभ्यता को स्वामी विवेकानंद मध्यकालीन यूरोप की ईसाई परंपरा की तुलना में सनातन हिन्दू परंपरा के ज्यादा अनुकूल, एक तरह से पूरक तत्त्व मानते थे। फलस्वरूप भारतीय समाज की आंतरिक कमजोरी तथा सामूहिकता की भावना की कमी को उन्होंने हमारी करीब 1000 वर्षों की गुलामी एवं सांस्कृतिक पतन का परिणाम माना एवं इसको दूर करने के लिए आधुनिक युरोपीय धर्म एवं समाज सुधार के तर्ज पर सुधार आंदोलन की वकालत किया। आधुनिक भारत में सुधार आंदोलन चलाने के लिए स्वामी विवेकानंद ने किसी सैद्धांतिक विचाराधारा के सुसंबद्ध आग्रह के स्थान पर हिन्दू चिंतकों में लोकप्रिय प्रैगमैटिज्म या रणनीतिक व्यावहारिकता एवं सांसारिक युक्ति को ज्यादा महत्त्व दिया।

इस दृष्टि से सजग या असजग रूप से वे समर्थ रामदास की परंपरा से साम्य रखते थे। इसी के तहत उनके भाषणों में एक प्रकार का पैगन विविधता एवं जटिल समायोजन की कलात्मक–सभ्यतामूलक युक्ति दिखती है। इसी के तहत वे कभी 'इस्लामिक बॉडी एण्ड वेदान्तिक माइन्ड' (मुसलमानी सामूहिकता एंव वैदान्तिक तत्त्व ज्ञान) के समन्वय की बात करने लगे, कभी भारतीय अध्यात्म एवं पश्चिमी विज्ञान–तकनीक की वकालत करने लगे। कभी उनने कहा कि अपने दीन–हीन, अभागे–बहनों की हमें भी उसी तरह दान एवं सेवा करनी चाहिए जिस तरह ईसाई लोग 'चैरिटी' (दान) एवं

मुसलमान लोग 'जकात' (दान) करते हैं। कभी उनको लगता कि हमारे यहाँ के कमजोर वर्गों की उन्नति तभी होगी जब वे संस्कृत सीखेंगे और अपने भीतर की कुरीतियों एवं कुसंस्कार को दूर करेंगे।

स्वामीजी के चिन्तन में उपरोक्त चीजें प्रत्यक्ष रूप से ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के विद्यालय में पढ़ने के दौरान आयीं, या साधारण ब्रह्म समाज की संगति के दौरान, या कॉलेज के दिनों में एशियाटिक सोसाइटी के भारतविदों के प्रभाव में यह ठीक से नहीं कहा जा सकता। स्वामी रामकृष्ण परमहंस के चिन्तन में भी इसका असजग उद्‌गम या प्रेरणा खोजा जा सकता है। स्वामी रामकृष्ण परमहंस पर जितना प्रभाव तोता पुरी महाराज के माध्यम से श्रृंगेरी मठ का था उससे कहीं अधिक भैरवी ब्राह्मणी के माध्यम से तंत्र का था। परंतु उनकी अपनी अनुभूति माँ काली की अनन्य भक्ति और अपरोक्ष साक्षात्कार से विशिष्ट बनी थी। स्वामी विवेकानंद ने कई बार स्वीकारा है कि स्वामी रामकृष्ण के जीवन में वे उनको ठीक से समझ नहीं पाये और सम्पूर्ण समर्पण नहीं कर पाये। स्वामी रामकृष्ण भक्तिमार्गी थे जबकि स्वामी विवेकानंद कर्ममार्गी थे। इस तरह स्वामी रामकृष्ण और स्वामी विवेकानंद की दृष्टि में थोड़ा अंतर तो अवश्य है। यह अंतर एक हद तक भारतीय परंमरा एवं भारतीय आधुनिकता के बीच का अंतर कहा जा सकता है। कुछ हद तक स्वामी विवेकानंद युरोपीय दुष्टि वाली समाजिक सुधार एवं धर्मसूधार से प्रभावित थे। एक हद तक

यह आधुनिक दृष्टि महात्मा गाँधी में भी थी; परंतु स्वामी रामकृष्ण परमहंस में नहीं थी।

स्वामी विवेकानंद और महात्मा गाँधी दोनों एक अर्थ में भारत और पश्चिम के बीच समन्वय करना चाहते थे। परंतु दोनों की दृष्टि भिन्न थी। कुछ विद्वानों का कहना है कि स्वामी विवेकानंद पश्चिमी ज्ञान–विज्ञान, तकनीक एवं मैनेजमेंट (व्यवस्था प्रबंध) का भारतीय वेदान्त की जीवन दृष्टि से समन्वय करना चाहते थे जबकि आइ. जी. पटेल, श्री अरबिंदो और कुछ अन्य लोगों का कहना रहा है कि महात्मा गाँधी भारतीय तकनीक, व्यवस्था प्रबंध एवं पारंपरिक ज्ञान–विज्ञान का ईसाई समाजवादी जीवन दृष्टि एवं नैतिकता से प्रेरणा ग्रहण कर, युगानुकूलन एवं समन्वय करना चाहते थे। स्वामी विवेकानंद भारत के राष्ट्रीय आंदोलन के प्रति उदासीन थे जबकि महात्मा गाँधी अपने समय में भारत के राष्ट्रीय आंदोलन के जननायक थे। फलस्वरूप, स्वामी विवेकानंद अपने जीवन काल में उतने प्रभावी नहीं थे जितने प्रभावी महात्मा गाँधी अपने जीवन काल में थे। परंतु धीरे–धीरे स्वामी विवेकानंद का प्रभाव बढ़ता गया जबकि मृत्यु के बाद भारत में महात्मा गाँधी का प्रभाव घटता गया। यदि दोनों के अनुयायियों की सामाजिक – सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का समाजशास्त्रीय अध्ययन करें तो यह देखने में आता है कि स्वामी विवेकानंद भारतीय मध्यवर्ग एवं भारतीय मूल के संपन्न तबकों में ज्यादा

लोकप्रिय एवं प्रभावी हैं। जबकि महात्मा गाँधी भारत स ज्यादा विदशों में लोकप्रिय एवं प्रभावी हैं।

भारत की आम जनता में महात्मा गाँधी के प्रति पूजा का भाव है परंतु भारत का शिक्षित एवं संपन्न मध्यम वर्ग महात्मा गाँधी के आर्थिक–सामाजिक एवं सभ्यतामूलक विचारों के प्रति उदासीन रहता है। स्वामी विवेकानंद और महात्मा गाँधी दोनों के विचार बहुआयामी हैं और उनका प्रभाव भी बहुआयामी है। अतः दोनों को एक–दूसरे का वैचारिक प्रतिद्वंदी नहीं माना जा सकता। दोनों में एक प्रकार की सभ्यतामूलक पूरकता है और दोनों में समान रूप से भारतीय संस्कृति की समन्वयवादी दृष्टि का भाव है। परंतु दोनों की तर्क प्रणाली अलग–अलग है और दोनों के विचारों से प्रभाव ग्रहण करने वाले सामाजिक समूहों एवं समुदायों में विश्लेषण एवं अध्ययन की दृष्टि से अंतर करना संभव है।

उपरोक्त संदर्भ में 1906 में महात्मा गाँधी ने साउथ अफ्रीका में रंगभेद के खिलाफ सुविचारित आंदोलन शुरू किया। 1905–1906 में ही भारत में बंगाल विभाजन के विरोध में स्वदेशी आंदोलन शुरू हुआ जिसने कांग्रेस पार्टी को अखिल भारतीय स्तर पर गरमपंथी और नरमपंथी दो समूहों में विभक्त कर दिया। गरमपंथी समूह के महानायक लोकमान्य बालगंगाधर तिलक थे और उनके प्रमुख सहयोगियों में बिपिनचन्द्र पाल, लाला लाजपत राय एवं श्रीअरबिन्दो घोष आदि थे। तिलक महाराज ने “स्वराज हमारा जन्मसिद्ध

अधिकार है'' का नारा लगाया और गणेश महोत्सव जैसे जनभागीदारी वाले लोक त्योहार को सांस्कृतिक–राजनैतिक आंदोलन के लिए माध्यम बनाया। नरमपंथी समूह के नायकों में दादा भाई नौरोजी, गोपाल कृष्ण गोखले, फिरोज शाह मेहता जैसे विद्वान एवं सुधारवादी लोग थे। ये लोग अंग्रेजी राज के खिलाफ नहीं थे परंतु अंग्रेजी राज के अंतर्गत ही भारतीय लोगों के लिए ज्यादा संवैधानिक अधिकार चाहते थे। इसके लिए ये लोग आंदोलन के बदले, अंग्रेजों की नैतिकता पर भरोसा करके उनके हृदय परिवर्तन के लिए उन्हें अंग्रेजी राज के कारिंदों एवं नीतियों की त्रुटियों एवं अनैतिकता आदि के बारे में आवेदन करते रहते थे। ऐसी परिस्थिति में 1909 में हिन्द स्वरज की रचना हुई।

हिन्द स्वराज में गाँधीजी ने भारत के आम आदमी, लोक संस्कृति एवं सनातनी हिन्दुओं के प्रतिनिधि के रूप में आत्म–सजग होकर एक सैद्धान्तिक पक्ष प्रस्तुत किया है। हिन्द स्वराज लिखते वक्त भारत में बहुत कुछ वैसी ही स्थिति रही होगी, जिसकी चर्चा श्रीमद्भागवत गीता के पहले अध्याय में है जब धृतराष्ट्र संजय से कुरुक्षेत्र में आमने–सामने युद्ध के लिए खड़ी कौरवों–पांडवों की सेना के बारे में पूछते हैं। जिस तरह गीता के पहले अध्याय के अंतर्गत श्रीकृष्ण–अर्जुन के संवाद को महाभारत के व्यापक संदर्भ से जोड़ा गया है उसी तरह हिन्द स्वराज में संपादक–पाठक संवाद को कांग्रेस पार्टी के अंतर्गत चल रहे स्वतंत्रता आंदोलन के वैचारिक महाभारत से

जोड़ा गया है। यह भी नहीं भूलना चाहिए कि भारतीय परंपरा में वेदव्यासजी वेद, पुराण, उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीता के संपादक ही माने गए हैं। यह माना जाता है कि वैदिक परंपरा गुरु–शिष्य परंपरा में गुरु–मुखी विद्या के रूप में हस्तांतरित होती रही है और व्यासजी ने इनका पुस्तक के रूप में मात्र संकलन–संपादन किया है।

यदि हिन्द स्वराज के बारे में गाँधीजी के विभिन्न अवसरों पर व्यक्त विचारों का सूक्ष्म अध्ययन किया जाये और हिन्द स्वराज की आंतरिक संरचना पर ध्यान दिया जाये तो कोई शंका नहीं रह जाती कि गाँधीवादियों के लिए हिन्द स्वराज महात्मा गाँधी का लोक वेद भी है और लोक गीता भी। यह उनका लोकशास्त्र भी है और स्वराज शास्त्र भी। यह प्रवृत्ति मार्ग की वकालत है। परंतु इसका ज्यादा संबंध 'स्व' से है राज्य और उसके तंत्र से नहीं है। यह व्यक्ति के 'स्व' (आत्मा), समाज की संस्कृति एवं सभ्यता की नियति का लोक में व्याप्त एवं प्रिय शास्त्र का संकलन, संपादन का प्रतिफल है। एक पारंपरिक दस्तावेज के युगानुकूल अभिव्यक्ति का कलात्मक रूपांतरण है। भारत में पारंपरिक संप्रेषण के क्रम में मिथकों के रूपांतरण के लिए महाकाव्यों या नाटकों का उपयोग किया जाता रहा है। साथ ही लोक में पारंपरिक आख्यानों का उपयोग सामाजिक विमर्शों में नैतिक बल प्राप्त करने के लिए एवं अपने पक्ष को सत्य, न्याय एवं धर्म पर साबित करने के लिए किया जाता रहा है।

महात्मा गाँधी ने भी गीता के पाठ (टेक्सट) एवं राम नाम का उपयोग नैतिक बल प्राप्त करने एवं अपने प्रयासों को सनातन धर्म के अनुकूल साबित करने के लिए किया। बिना कोई घोषणा किये उन्होंने वैष्णवों के दोनों संप्रदायों रामनामियों एवं कृष्णाश्रयियों में उसी काल खण्ड में, समन्वय का मार्ग लोकप्रिय बनाय। तिलक महाराज शैव परंपरा का संबल दे रहे थे और रामचन्द्र शुक्ल राम उपासकों की दृष्टि रखते हुए कृष्ण भक्ति के प्रति अपनी आलोचना में कटाक्ष कर रहे थे। श्रीअरबिंदो वासुदेव कृष्ण के योगी और तांत्रिक रूप से गहरे प्रेरित थे। डा0 भीमराव अंबेडकर भक्ति आन्दोलन और बौद्ध परंपरा की वकालत कर रहे थे। केवल रामकृष्ण और महात्मा गाँधी के पास संप्रदायनिरपेक्ष सभ्यतामूलक विमर्श निर्मित करने की आत्मसजग चेतना बार–बार दिखती है। व्यक्तिगत आस्था क्रमशः माँ काली (रामकृष्ण) एवं निर्गुण राम (महात्मा गाँधी) में होने के बावजूद भाषा, तत्त्व–चिन्तन एवं आख्यानों के चुनाव के संदर्भ में सनातन धर्म की सभ्यतामूलक विशालता, सहिष्णुता, समन्वय दृष्टि एवं सम्पूर्ण सत्य के प्रति तादात्म्यता एवं आचार–विचार में महाकरुणा एवं अहिंसा का जैसा दर्शन इन दोनों में होता है वैसा अन्यत्र नहीं होता।

बिना घोषणा किये हिन्द स्वराज को गाँधीजी सनातन भारत की सबसे महत्त्वपूर्ण गाथा महाभारत से जोड़ते हैं। अपने समय (1909) के भारत के वैचारिक संघर्ष को महाभारत के सनातनी कैनवा में प्रस्तुत करते हुए वे पश्चिमी सभ्यता की

कठोर आलोचना प्रस्तुत करते हैं। भारत के सांस्क्‌तिक इतिहास से परिचित हुए बिना हिन्द स्वराज के संरचनात्मक शिल्प को समझना संभव नहीं है। यह शोध का विषय है कि हिन्द स्वराज की प्रस्तुति का शिल्प महात्मा गाँधी ने रस्किन के कला सिद्धांत से लिया या टाल्सटाय के महाकाव्यात्मक उपन्यासों से या फिर तुलसीदास से जिन्होंने वाल्मीकि रामायण के संरचनात्मक शिल्प और कथात्मक संतुलन को बिना घोषणा किये अपने रामचरित मानस में बदल दिया था और उत्तर भारत की जनता ने भी बिना घोषणा किये ही इसका लोकवेद के रूप में परायण शुरू कर दिया। जो भी हो महाभारत की कथा और गीता की संरचना से जोड़े बिना हिन्द स्वराज को समझने की हर काशिश एक पैरोडी बन कर रह गई है। और यह स्वाभाविक परिणति है।

महाभारत की कथा के अनुसार पुत्रमोह में अंधे राजा धृतराष्ट्र जन्मान्ध भी थे। संजय उनके सारथी बने हैं। राजा धृतराष्ट्र कुरुक्षेत्र में होने वाले युद्ध का हाल जानने के लिए उतावले हो रहे हैं। संजय उन्हें कुरुक्षेत्र में होने जा रहे महाभारत की तैयारी का हाल गीता के प्रथम अध्याय में बतलाते हैं। पाण्डवों की सेना के महानायक अर्जुन के सारथी श्रीकृष्ण हैं। शत्रु सेना में अपने बंधु–बान्धवों, गुरुजनों एवं पूज्यजनों को देखकर अर्जुन मोह में फँसकर किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाते हैं। श्रीकृष्ण गीता के उपदेश द्वारा अर्जुन को (मोह पाश–काट कर अपने सगे संबंधियों के विरुद्ध हस्तिनापुर राज्य

पर पाण्डव कुल के अधिकार की पुःर्नप्राप्ति के लिए) युद्ध करने के लिए तैयार करते हैं।

तिलक महाराज ने गीता रहस्य में कर्मवाद को स्थापित किया था। वे 'आर्कटिक होम इन द वेदाज' एवं 'ओरियन' जैसी दुरूह ज्ञानमार्गी कृतियों की भी रचना कर चुके थे। इनके विपरीत हिन्द स्वराज में महात्मा गाँधी भक्ति मार्ग एवं प्रेम साधना को पुरुषार्थ के रूप में प्रस्तुत करते हैं। इसके सारे अध्याय अर्थवत्ता की दृष्टि से एक–दूसरे पर निर्भर हैं। पूरी पुस्तिका एक बार पढ़ लेने के बाद ही अलग–अलग अध्यायों का अर्थ खुल पाता है। परंतु वह भी तब जब इसे हम सनातन भारतीय दृष्टि का एक पाठ मानें वर्ना राजमोहन गाँधी जैसे लोग तो इसे अपने समय की कृति (यानि आज के समय के लिए अप्रासंगिक कृति) साबित करने में लगे हुए हैं ही। हमारे कुछ मित्रों को ऐसा लगता है कि हिन्द स्वराज की श्रीमद्भागवत गीता से तुलना करना और महात्मा गाँधी के विचारों की भगवान श्रीकृष्ण के गीता में वर्णित विचारों से तुलना करना एक प्रकार की अतिरंजना है जिससे बचना चाहिए। महात्मा गाँधी के जीवन में और उनके शरीर छोड़ने के बाद भी जिस तरह बड़े–बड़े लोगों ने उन पर अभारतीय एवं अहिन्द होने तथा बाहरी विचारों एवं निष्ठाओं से प्रभावित होने का मिथक गढ़ा उसको ध्यान में रखकर उपरोक्त तथ्यों को सामने लाना समयानुकूल है।

तिलक महाराज जब 'गीता रहस्य' रच रहे थे तो अंग्रेजी राज के विकल्प की प्रेरणा उन्हें शिवाजी महाराज और पेशवाओं की शासन व्यवस्था से मिली थी। गीता रहस्य में कौरव एक तरफ औरंगजेब का प्रतीक है तो दूसरी तरफ अंग्रेजी राज का। श्रीकृष्ण का युगानुकूलन समर्थ रामदास में खोजा जा सकता है और अर्जुन का शिवाजी महाराज में। लेकिन अंग्रेजों से लड़ने की प्रेरणा तिलक महाराज 'दासबोध', 'ज्ञानेश्वरी' या गीता के शंकर भाष्य से नहीं लेते, उनकी प्रेरणा अंततः अंतरात्मा से आती है। गीता रहस्य और गणपति महोत्सव एक ही रणनीति के दो पहलू हैं। तिलक महाराज को परंपरा की सीमा पता है इसके बावजूद वे राणाडे एवं गोखले की तरह सुधारवादी नहीं हैं। दूसरी ओर, कहीं न कहीं रामचन्द्र शुक्ल एवं सुधारवादियों में वैचारिक समता अवश्य है। युगपरिवर्तन को नहीं स्वीकारना और जोड़–तोड़ करके पुरानी संरचना को कायम रखना पुनरुत्थानवादी रुझान है जो सनातनी दृष्टि से अभारतीय है। हर उत्सव में हम भारतीय लोग पुनर्रचना करते हैं और उत्सव की समाप्ति पर विसर्जन कर देते हैं। केवल ब्रह्मा और विष्णु नहीं, शिव भी सनातन देवता हैं। भारतीय परंमरा में, केवल सगुण और निर्गुण पक्ष नहीं है आस्ति और नास्तिक पक्ष भी हैं। लोकायत भी एक वैध भारतीय दर्शन है। नौ रसों में एक वैध रस वीभत्स भी है। स्मृतिकारों ने केवल ब्राह्म और प्रजापत्य विवाह को नहीं स्वीकारा है बल्कि गंधर्व, राक्षस एवं पैशाच विवाह को भी एक सीमा तक वैध माना है। भारतीय परंपरा केवल त्याग, अध्यात्म

और योग की नहीं है भोग, प्रकृतिवादी भौतिकता और राग एवं चिकित्सा की भी है। भारतीय परंपरा नियम एवं सिद्धान्त पर आधारित संसार एवं जगत की चर्चा करती है, नैतिकवादी आग्रह और अनैतिक व्यवहार में सामंजस्य बिठाने की चर्चा नहीं करती। तंत्र एवं आगम की परंपरा भी उतनी ही भारतीय है जितना वेद और वेदान्त की। तुलसी के मानस में सबको स्वीकारने का साहस है परंतु शुक्लजी की मौलिकता की अपनी सीमाएं हैं। यह सीमा कभी कबीर के मूल्यांकन में सामने आती है, कभी गाँधी के मूल्यांकन को असंतुलित करती है और कभी निराला की संवेदना के साथ न्याय करने में बाधा बनती है। भारतीय परंपरा सर्वग्राही एवं कॉस्मिक रियलिस्ट (एकात्मक यर्थाथवादी) रही है। महात्मा गाँधी का हिन्द स्वराज इसी भारतीय परंपरा की वकालत करती है। इसमें वे तिलक महाराज, विवेकानंद, रामकृष्ण, समर्थ रामदास, तुलसीदास और कबीर से भी पीछे जाकर गीता और महाभारत की वाचिक परंपरा के लो पक्ष के वारिस हैं और इस परद्यापरा के समकालीन सिद्धांतकार भी।